श्रमण

वर्ष ४३] जनवरी-मार्च १९९२ [अंक १-३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-५

प्रधान संपादक

प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक
डॉ० अशोक कुमार सिंह

सह सम्पादक
डॉ० शिव प्रसाद

वर्ष ४३ | जनवरी-मार्च १९९२ | अंक १-३

प्रस्तुत अंक में

१. मूल्य और मूल्यबोध की सापेक्षता का सिद्धान्त
—प्रो० सागरमल जैन १

२. गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास
—प्रो० सागरमल जैन २३

३. चन्द्रकवेध्यक (प्रकीर्णक) एक आलोचनात्मक परिचय
—श्री सुरेश सिसोदिया ४५

४. श्रमण एवं ब्राह्मण परम्परा में परमेष्ठी पद
—साध्वी (डा०) सुरेखा श्री ५५

५ ऋषिभाषित का सामाजिक दर्शन
—साध्वी (डा०) प्रमोद कुमारी ६९

६. पर्यावरण एवं अहिंसा —डॉ० डी० आर० भण्डारी ८१

७. स्याद्वाद एवं शून्यवाद की समन्वयात्मक दृष्टि
—डॉ० (कु०) रत्ना श्रीवास्तव ९१

८ युगपुरुष आचार्य सम्राट आनन्द ऋषि जी म०
—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि १०३

९. पार्श्वनाथ शोधपीठ के प्रांगण में १०७

१०: जैन जगत् १०९

११ साहित्य सत्कार ११५

वार्षिक शुल्क
चालीस रुपये

एक प्रति
दस रुपये

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल्य और मूल्यबोध की सापेक्षता का सिद्धान्त

(भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन के सन्दर्भ में)

—प्रो० सागरमल जैन

(१)

मूल्य-दर्शन का उद्भव एवं विकास

एक नवीन दार्शनिक प्रस्थान के रूप में मूल्य-दर्शन का विकास लौत्से, ब्रेन्टानो, एरनफेल्स, माइनांग, हार्टमन, अरबन, एवरेट, मैक्स शेलर आदि विचारकों की रचनाओं के माध्यम से १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से प्रारम्भ होता है तथापि श्रेय एवं प्रेय के विवेक के रूप में परम सुख की खोज के रूप में एवं पुरुषार्थ की विवेचना के रूप में मूल्य-बोध और मूल्य-मीमांसा के मूलभूत प्रश्नों की समीक्षा एवं तत्सम्बन्धी चिन्तन के बीज पूर्व एवं पश्चिम के प्राचीन दार्शनिक चिन्तन में भी उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः मूल्य-बोध मानवीय प्रज्ञा के विकास के साथ ही प्रारम्भ होता है। अतः वह उतना ही प्राचीन है, जितना मानवीय प्रज्ञा का विकास। मूल्य-विषयक विचारविमर्श की यह धारा जहाँ भारत में 'श्रेय' एवं 'मोक्ष' को परम मूल्य मान कर आध्यात्मिकता की दिशा में गतिशील होती रही, वहीं पश्चिम में 'शुभ' एवं 'कल्याण' पर अधिक बल देकर ऐहिक, सामाजिक एवं बुद्धिवादी बनी रही। फिर भी अर्थ, काम और धर्म के त्रिवर्ग को स्वीकार कर न तो भारतीय विचारकों ने ऐहिक और सामाजिक जीवन के मूल्यों की उपेक्षा की है और न सत्य, शिव एवं सुन्दर के परम मूल्यों को स्वीकार कर पश्चिम के विचारकों ने मूल्यों की आध्यात्मिक अवधारणा की उपेक्षा की है।

(२)

मूल्य का स्वरूप

मूल्य क्या है? इस प्रश्न के अभी तक अनेक उत्तर दिये गए हैं—सुखवादी विचारपरम्परा के अनुसार, जो मनुष्य की किसी इच्छा को तृप्ति करता है अथवा जो सुखकर, रुचिकर एवं प्रिय है, वही मूल्य है। विकासवादियों के अनुसार जो जीवनरक्षक एवं संवर्द्धक है, वही मूल्य है। बुद्धिवादी कहते हैं कि मूल्य वह है जिसे मानवीय प्रज्ञा निरपेक्ष रूप से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरेण्य मानती है और जो एक विवेकवान् प्राणी के रूप में मनुष्य-जीवन का स्वतः साध्य है। अन्ततः पूर्णतावादी आत्मोपलब्धि को ही मूल्य मानते हैं और मूल्य के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः मूल्य के सन्दर्भ में ये सभी दृष्टिकोण किसी सीमा तक ऐकान्तिकता एवं अवान्तर कल्पना के दोष (Naturalistic Fallacy) से ग्रसित हैं। वास्तव में मूल्य एक अनैकान्तिक, व्यापक एवं बहु-आयामी प्रत्यय है, वह एक व्यवस्था है, एक संस्थान है, उसमें भौतिक और आध्यात्मिक, श्रेय और प्रेय, वांछित और वांछनीय, उच्च और निम्न, वासना और विवेक सभी समन्वित हैं। वे यथार्थ और आदर्श की खाई के लिए एक पुल का काम करते हैं। अतः उन्हें किसी ऐकान्तिक एवं निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता। मूल्य एक नहीं, अनेक हैं और मूल्य-दृष्टियाँ भी अनेक हैं। अतः प्रत्येक मूल्य किसी दृष्टि विशेष के प्रकाश में ही आलोकित होता है। वस्तुतः मूल्यों की और मूल्य-दृष्टियों की इस अनेकविधता और बहुआयामी प्रकृति को समझे बिना मूल्यों का सम्यक् मूल्यांकन भी सम्भव नहीं हो सकता है।

(३)

मूल्यबोध की सापेक्षता

मूल्य-बोध में मानवीय चेतना के विविध पहलू एक-दूसरे से संयोजित होते हैं। मूल्यांकन करने वाली चेतना भी बहुआयामी है, उसमें ज्ञान, भाव और संकल्प तीनों ही उपस्थित रहते हैं। विद्वानों ने इस बात को सम्यक् प्रकार से न समझ कर ही मूल्यों के स्वरूप को समझने में भूल की है। यहाँ हमें दो बातों को ठीक प्रकार से समझ लेना होगा—एक तो यह कि सभी मूल्यों का मूल्यांकन चेतना के किसी एक ही पक्ष के द्वारा सम्भव नहीं है, दूसरे यह कि मानवीय चेतना के सभी पक्ष एक-दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष होकर कार्य नहीं करते हैं। यदि हम इन बातों की उपेक्षा करेंगे तो हमारा मूल्य-बोध अपूर्ण एवं एकांगी होगा। फिर भी मूल्य-दर्शन के इतिहास में ऐसी उपेक्षा की जाती रही है। एरेनफेल्स ने मूल्य को इच्छा (डिज़ायर) का विषय माना तो माइनांग ने उसे भावना (फोलिंग) का विषय बताया। पैरी ने उसे रुचि (इंट्रेस्ट) का विषय मानकर मूल्य-बोध में इच्छा और भावना का संयोग माना है। सारले ने उसे अनुमोदन (एप्रीसियेशन) का विषय मान कर उसमें ज्ञान और भावना का संयोग माना है। फिर भी ये सभी विचारक किसी सीमा तक एकांगिता के दोष से नहीं बच पाये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल्य-बोध न तो कुर्सी और मेज़ के ज्ञान के समान तटस्थ ज्ञान है और न प्रेयसी के प्रति प्रेम की तरह मात्र भावावेश ही। वह मात्र इच्छा या रुचि का निर्माण भी नहीं है। वह न तो निरा तर्क है और न निरी भावना या संवेदना। मूल्यात्मक चेतना में इष्टत्व, सुखदता अथवा इच्छा-तृप्ति का विचार अवश्य उपस्थित रहता है, किन्तु यह इच्छा-तृप्ति का विचार या इष्टत्व का बोध विवेक-रहित न होकर विवेक-युक्त होता है। इच्छा स्वयं में कोई मूल्य नहीं, उसकी अथवा उसके विषय की मूल्यात्मकता का निर्णय स्वयं इच्छा नहीं, विवेक करता है, भूख स्वयं मूल्य नहीं है, रोटी मूल्यवान है, किन्तु रोटी की मूल्यात्मकता भी स्वयं रोटी पर नहीं अपितु उसका मूल्यांकन करने वाली चेतना पर तथा क्षुधा की वेदना पर निर्भर है। किसी वस्तु के वांछनीय, ऐषणीय या मूल्यवान् होने का अर्थ है—निष्पक्ष विवेक की आँखों में वांछनीय होना। मात्र इच्छा या मात्र वासना अपने विषय को वांछनीय या एषणीय नहीं बना देती है, यदि उसमें विवेक का योगदान न हो। मूल्य का जन्म वासना और विवेक तथा यथार्थ और आदर्श के सम्मिलन में ही होता है। वासना मूल्य के लिए कच्ची सामग्री है तो विवेक उसका रूपाकार। उसमें भोग और त्याग, तृप्ति और निवृत्ति एक साथ उपस्थित रहते हैं। इस सन्दर्भ में श्री संगमलाल जी पांडेय का मूल्यों की त्यागरूपता का सिद्धान्त भी एकांगी ही लगता है। उनका यह कहना कि "निवृत्ति ही मूल्यसार है" ठीक नहीं है। मूल्य में निवृत्ति और संतुष्टि (प्रकृति) दोनों ही अपेक्षित हैं। उन्होंने अपने लेख में निवृत्ति शब्द का दो भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है, जो एक भ्रान्ति को जन्म देता है। क्षुधा की निवृत्ति या कामवेग को निवृत्ति में त्याग नहीं भोग है। पुनः इस निवृत्ति को भी सन्तुष्टि का ही दूसरा रूप कहा जा सकता है। [देखिए—दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई १९७६]।

पुनश्च, यह मानना भी उचित नहीं है कि मूल्य-बोध में विवेक या बुद्धि ही एकमात्र निर्धारक तत्त्व है। मूल्य-बोध की प्रक्रिया में निश्चित ही विवेक-बुद्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु यही एकमात्र निर्धारक तत्त्व नहीं है। मूल्य-बोध न तो मात्र जैव-प्रेरणा या इच्छा से उत्पन्न होता है और न मात्र विवेक-बुद्धि से। मूल्य-बोध में भावात्मक पक्ष का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, किन्तु केवल भावोन्मेष भी मूल्य-बोध नहीं दे पाता है। डॉ. गोविन्दचन्द्रजी पांडे के शब्दों में "यह (मूल्य-बोध) केवलभाव-सघनता या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्छोद्वेलन न होकर व्यक्त या अव्यक्त विवेक से आलोकित है, उसमें अनुभूति की जीवन्त सघनता और रागात्मकता (लगाव) के साथ ज्ञान की स्वच्छता और तटस्थता (अलगाव) उपस्थित मिलते हैं (मूल्य-मीमांसा)। इस प्रकार मूल्य-चेतना में ज्ञान, भाव और इच्छा तीनों ही उपस्थित होते हैं। फिर भी यह विचारणीय है कि क्या सभी प्रकार के मूल्यांकन में ये सभी पक्ष समान रूप से बलशाली रहते हैं ? यद्यपि प्रत्येक मूल्य-बोध एवं मूल्यांकन में ज्ञान, भाव और इच्छा के तत्त्व उपस्थित रहते हैं, फिर भी विविध प्रकार के मूल्यों का मूल्यांकन या मूल्य-बोध करते समय इनके बलाबल में तरतमता अवश्य रहती है। उदाहरणार्थ—सौंदर्य-बोध में भाव या अनुभूत्यात्मक पक्ष का जितना प्राधान्य होता है उतना अन्य पक्षों का नहीं। आर्थिक एवं जैविक मूल्यों के बोध में इच्छा की जितनी प्रधानता होती है उतनी विवेक या भाव की नहीं। यह बात तो मूल्य विशेष की प्रकृति पर निर्भर है कि उसका मूल्य-बोध करते समय कौनसा पक्ष प्रधान होगा। इतना ही नहीं, मूल्य-बोध में देश-काल और परिवेश के तत्त्व भी चेतना पर अपना प्रभाव डालते हैं और हमारे मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार मूल्य-बोध एक सहज प्रक्रिया न होकर एक जटिल प्रक्रिय है और उसकी इस जटिलता में ही उसकी सापेक्षता निहित है। जो आचार किसी देश, काल परिस्थिति विशेष में शुभ माना जाता है वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में अशुभ माना जा सकता है। सौंदर्य-बोध, रसानुभूति आदि के मानदण्ड भी देश, काल और व्यक्ति के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। आज सामान्यजन फिल्मी गानों में जो रस-बोध पाता है वह उसे शास्त्रीय संगीत में नहीं मिलता है। इसी प्रकार रुचि-भेद भी हमारे मूल्य-बोध को एवं मूल्यांकन को प्रभावित करता है। वस्तुतः मूल्य-बोध की अवस्था चेतना की निष्क्रिय अवस्था नहीं है। जो विचारक यह मानते हैं कि मूल्य-बोध एक प्रकार का सहज ज्ञान है, वे उसके स्वरूप से ही अनभिज्ञ हैं। मात्र यही नहीं, रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति में और तत्सम्बन्धी मूल्य-बोध में भी अन्तर है। रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति में मात्र भावपरक पक्ष की उपस्थिति पर्याप्त होती है, उसमें विवेक का कोई तत्त्व उपस्थित हो ही यह आवश्यक नहीं है, किन्तु तत्सम्बन्धी मूल्य-बोध में किसी न किसी विवेक का तत्त्व अवश्य ही उपस्थित रहता है। मूल्य-बोध और मूल्य-लाभ सक्रिय एवं सृजनात्मक चेतना के कार्य हैं। मूल्य-बोध और मूल्य-लाभ में मानवीय चेतना के विविध पक्षों का विविध आयामों में एक प्रकार का द्वन्द्व चलता है। वासना और विवेक अथवा भावना या विवेक के अन्तर्द्वन्द्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में ही मनुष्य मूल्य-विश्व का आभास पाता है यद्यपि मूल्यांकन करने वाली चेतना मूल्य-बोध में इस द्वन्द्व का अतिक्रमण करती है। वस्तुतः इस द्वन्द्व में जो पहलू विजयी होता है उसी के आधार पर व्यक्ति की मूल्य-दृष्टि बनती है और जैसी मूल्य-दृष्टि बनती है वैसा ही मूल्यांकन या मूल्य-बोध होता है। जिनमें जिजीविषा प्रधान हो, जिनको चेतना को जैव प्रेरणाएँ ही अनुशासित करती हों, उन्हें रोटी अर्थात् जीवन का संवर्द्धन ही एकमात्र परम मूल्य लग सकता है, किन्तु अनेक परिस्थितियों में विवेक के प्रबुद्ध होने पर कुछ व्यक्तियों को चारित्रिक एवं अन्य उच्च मूल्यों की उपलब्धि हेतु जीवन का बलिदान ही एकमात्र परम् मूल्य लग सकता है। किसी के लिए वासनात्मक एवं जैविक मूल्य ही परम मूल्य हो सकते हों और जीवन सर्वतोभावेन रक्षणीय माना जा सकता हो, किन्तु किसी के लिए चारित्रिक या नैतिक मूल्य इतने उच्च हो सकते हैं कि वह उनकी रक्षा के लिए जीवन का बलिदान कर दे। इस प्रकार मूल्य-बोध की विभिन्न दृष्टियों का निर्माण चेतना के विविध पहलुओं में से किसी एक की प्रधानता के कारण अथवा देश-काल तथा परिस्थितिजन्य तत्त्वों के कारण होता है और उसके परिणामस्वरूप मूल्य-बोध तथा मूल्यांकन भी प्रभावित होता है। अतः हम कह सकते हैं कि मूल्य-बोध भी किसी सीमा तक दृष्टि-सापेक्ष है, किन्तु इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं दृष्टि भी मूल्य-बोध से प्रभावित होती है। इस प्रकार मूल्य-बोध और मनुष्य को जीवन-दृष्टि परस्पर सापेक्ष हैं। अरबन का यह कथन कि मूल्यांकन मूल्य को निर्धारित नहीं अपितु मूल्य ही अपनी पूर्ववर्ती वस्तुनिष्ठता के द्वारा मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं, आंशिक सत्य ही कहा जा सकता है। मूल्य न तो पूर्णतया वस्तुतन्त्र है और न आत्मतन्त्र ही। हमारा मूल्य-बोध आत्म और वस्तु दोनों से प्रभावित होता है। सौंदर्य-बोध में, काव्य के रस-बोध में आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के इन दोनों पक्षों को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। सौंदर्य-बोध अथवा काव्य की रसानुभूति न पूरी तरह कृति-सापेक्ष है, न पूरी तरह आत्म-सापेक्ष। इस प्रकार हमें यह मानना होगा कि मूल्यांकन करने वाली चेतना और मूल्य दोनों ही एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। मूल्यांकन की प्रक्रिया में दोनों परस्पराश्रित हैं। एक ओर मूल्य अपनी मूल्यवत्ता के लिए चेतन सत्ता की अपेक्षा करते हैं दूसरी ओर चेतन सत्ता मूल्य-बोध के लिए किसी वस्तु, कृति या घटना की अपेक्षा करती है। मूल्य न तो मात्र वस्तुओं से प्रकट होते हैं और न मात्र आत्मा से। अतः मूल्य-बोध की प्रक्रिया को समझाने में विषयितंत्रता या वस्तुतंत्रता ऐकां-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिक धारणाएँ हैं। मूल्य का प्रकटीकरण चेतना और वस्तु (यहाँ वस्तु में कृति या घटना अन्तर्भूत हैं) दोनों के संयोग में होता है। पेरी सीमा तक सत्य के निकट हैं जब वे यह कहते हैं कि मूल्य वस्तु और विचार के ऐच्छिक सम्बन्ध में प्रकट होते हैं।

(४)

मूल्यों की तरतमता का प्रश्न

मूल्य-बोध के साथ जुड़ा हुआ दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, मूल्यों के तारतम्य का बोध। हमें केवल मूल्य-बोध नहीं होता अपितु मूल्यों के उच्चावच क्रम का या उनकी तरतमता का भी बोध होता है। वस्तुतः हमें मूल्य का नहीं अपितु मूल्यों का, उनकी तरतमता-सहित, बोध होता है। हम किसी भी मूल्य-विशेष का बोध मूल्य-विश्व में ही करते हैं, अलग एकाकी रूप में नहीं। अतः किसी मूल्य के बोध के समय ही उसकी तरतमता का भी बोध हो जाता है। किन्तु यह तरतमता का बोध भी दृष्टि-निरपेक्ष नहीं होकर दृष्टि-सापेक्ष होता है। हम कुछ मूल्यों का उच्च मूल्य और कुछ मूल्यों को निम्न मूल्य कहते हैं किन्तु मूल्यों की इस उच्चावचता या तरतमता का निर्धारण कौन करता है? क्या मूल्यों की अपनी कोई ऐसी व्यवस्था है जिसमें निरपेक्ष रूप से उसको तरमता का बोध हो जाता है? यदि मूल्यों की तरतमता की कोई ऐसी वस्तुनिष्ठ व्यवस्था होती है तो फिर तरतमता सम्बन्धी हमारे विचारों में मतभेद नहीं होता। किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। अतः स्पष्ट है कि मूल्यों की तरतमता का बोध भी दृष्टि-सापेक्ष है।

भारतीय परम्परा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की मूल्य-दृष्टियों की विविधता मूल्य-बोध की सापेक्षता को ही सूचित करती है। पश्चिम में भी सत्य, शिव एवं सुन्दर के सम्बन्ध में इसी प्रकार का दृष्टिभेद परिलक्षित होता है। कुछ लोग सत्य को परम मूल्य मानते हैं तो दूसरे कुछ लोग शिव (कल्याण) को अथवा सुन्दर को परम मूल्य मानते हैं। भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की श्रेष्ठता अथवा कनिष्ठता के सम्बन्ध में भी जो मतभेद हैं वे सभी दृष्टि-सापेक्ष ही हैं। वस्तुतः जो किसी एक दृष्टि से सर्वोच्च मूल्य हो सकता है वही दूसरी दृष्टि से निम्न मूल्य भी सिद्ध हो सकता है। बलवत्ता या तीव्रता की दृष्टि से जहाँ जैविक मूल्य सर्वोच्च ठहरते हैं, वहीं विवेक एवं संयम की दृष्टि से आध्यात्मिक एवं अतिजैविक मूल्य उच्चतर माने जा सकते हैं। पुनः, किसी एक ही दृष्टि के आधार पर मूल्यों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरतमता का निर्धारण भी सम्भव नहीं है, क्योंकि मूल्य और मूल्यदृष्टियाँ बहुआयामी हैं, वे एक-रेखीय न होकर बहुरेखीय हैं। एक मूल्य पर एक दृष्टि से विचार किया जा सकता है। इस प्रकार मूल्य-बोध और उनकी तरतमता का बोध दृष्टि-सापेक्ष है और दृष्टि-चेतना के विविध पहलुओं के बलाबल पर निर्भर करता है। पुनश्च, चेतना के वासनात्मक और विवेकात्मक पहलुओं में कब, कौन, कितना बलशाली होगा यह बात भी आंशिक रूप से देश-काल और परिस्थितियों पर निर्भर होगी और आंशिक रूप से व्यक्ति के संस्कार और मूल्य-दृष्टि पर भी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मूल्य-बोध मूल्य-दृष्टि पर निर्भर करता है और मूल्य-दृष्टि स्वयं मूल्य-बोध पर। वे अन्योन्याश्रित हैं, बीज-वृक्ष न्याय के समान उनमें से किसी की पूर्वता-प्राथमिकता का निश्चय कर पाना कठिन है।

डब्ल्यू० एम० अरबन का आध्यात्मिक मूल्यवाद और भारतीय मूल्य दर्शन

अरबन[1] के अनुसार मूल्यांकन एक निर्णयात्मक प्रक्रिया है, जिसमें सत् के प्रति प्राथमिक विश्वासों के ज्ञान का तत्त्व भी होता है। इसके साथ ही उसमें भावात्मक तथा संकल्पात्मक अनुक्रिया भी है। मूल्यांकन संकल्पात्मक प्रक्रिया का भावपक्ष है। अरबन मूल्यांकन की प्रक्रिया में ज्ञानपक्ष के साथ-साथ भावना एवं संकल्प की उपस्थिति भी आवश्यक मानते हैं। मूल्यांकन में निरन्तरता का तत्त्व उसकी प्रामाणिकता का आधार है। जितनी अधिक निरन्तरता होगी उतना ही अधिक वह प्रामाणिक होगा। मूल्यांकन और मूल्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए अरबन कहते हैं कि मूल्यांकन मूल्य को निर्धारित नहीं करता, वरन् मूल्य ही अपनी पूर्ववर्ती वस्तुनिष्ठता के द्वारा मूल्यांकन को निर्धारित करते हैं।

अरबन के अनुसार मूल्य न कोई गुण है, न वस्तु और न सम्बन्ध। वस्तुतः मूल्य अपरिभाष्य है तथापि उसकी प्रकृति को उसके सत्ता से सम्बन्ध के आधार पर जाना जा सकता है। वह सत्ता और असत्ता के मध्य स्थित है। अरबन मिनांग के समान उसे वस्तुनिष्ठ कहता है, किन्तु उसका अर्थ 'होना चाहिए' (Ought to be) में है। मूल्य सदैव अस्तित्व का दावा करते हैं, उनका सत् होना इसी पर निर्भर है कि सत् को ही मूल्य के उस रूप में विवेचित किया जाये, जिसमे सत्ता और अस्तित्व भी हो।

मूल्य की वस्तुनिष्ठता के दो आधार हैं—प्रथम यह कि प्रत्येक वस्तु

---

१. देखिए—वण्टेम्परारि एथिकल थ्योरीज़, अध्याय १७, पृ० २७४–२८४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय मूल्य की विधा में आता है और दूसरे प्रत्येक मूल्य उच्च और निम्न के क्रम से स्थित है। अरबन के अनुसार मूल्यों की अनुभूति उनकी किसी क्रम में अनुभूति है, यह बिना मूल्यों में पूर्वापरता माने, केवल मनोवैज्ञानिक अवस्था पर निर्भर नहीं हो सकती। इस प्रकार मूल्य एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

मूल्य की सामान्य चर्चा के बाद अरबन नैतिक मूल्य पर आते हैं। अरबन के अनुसार नैतिक दृष्टि से मूल्यवान होने का अर्थ है मनुष्य के लिए मूल्यवान होना। नैतिक शुभत्व मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त पर निर्भर है। मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त को कुछ लोगों ने आकारिक नियमों की व्यवस्था के रूप में और कुछ लोगों ने सुख की गणना के रूप में देखा था, लेकिन अरबन के अनुसार मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त का तीसरा एकमात्र सम्भावित विकल्प है 'आत्मसाक्षात्कार'। आत्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त के समर्थन में अरबन अरस्तू की तरह ही तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि वस्तुओं का शुभत्व उनकी कार्यकुशलता में है, अंगों का शुभत्व जीवन में उनके योगदान में है और जीवन का शुभत्व आत्मपूर्णता में है। मनुष्य 'आत्म' (Self) है और यदि यह सत्य है तो फिर मानव का वास्तविक शुभ उसकी आत्मपरिपूर्णता में ही निहित है। अरबन की यह दृष्टि भारतीय परम्परा के अति निकट है जो यह स्वीकार करती है कि आत्मपूर्णता ही नैतिक जीवन का लक्ष्य है।

अरबन के अनुसार 'आत्म' सामाजिक जीवन से अलग कोई व्यक्ति नही है, वरन् वह तो सामाजिक मर्यादाओं में बँधा हुआ है और समाज को अपने मूल्यांकन से और अपने को सामाजिक मूल्यांकन से प्रभावित पाता है।

अरबन के अनुसार स्वहित और परहित की समस्या का सही समाधान न तो परिष्कारित स्वहितवाद में है और न बौद्धिक परहितवाद में है, वरन् सामान्य शुभ की उपलब्धि के रूप में स्वहित और परहित से ऊपर उठ जाने में है। यह दृष्टिकोण भारतीय परम्परा में भी ठीक इसी रूप में स्वीकृत रहा है। जैन परम्परा भी स्वहित और लोकहित की सीमाओं से ऊपर उठ जाना ही नैतिक जीवन का लक्ष्य मानती है।

अरबन इस समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं कि मूल्यांकन करनेवाली मानवीय चेतना के द्वारा यह कैसे जाना जाय कि कौन से मूल्य उच्च कोटि के हैं और कौन से मूल्य निम्न कोटि के ? अरबन इसके तीन सिद्धान्त बताते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहला सिद्धान्त यह है कि साध्यात्मक या आन्तरिक मूल्य साधनात्मक या बाह्य मूल्यों की अपेक्षा उच्च है। दूसरा सिद्धान्त यह कि स्थायी मूल्य अस्थायी मूल्यों की अपेक्षा उच्च है और तीसरा सिद्धान्त यह है कि उत्पादक मूल्य अनुत्पादक मूल्यों की अपेक्षा उच्च है।

अरबन इन्हें व्यावहारिक विवेक के सिद्धान्त या मूल्य के नियम कहते हैं। ये हमें बताते हैं कि आंगिक मूल्य जिनमें आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य समाहित हैं, की अपेक्षा सामाजिक मूल्य जिनमें साहचर्य और चारित्र के मूल्य भी समाहित हैं, उच्च प्रकार के हैं। उसी प्रकार सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा आध्यात्मिक मूल्य, जिनमें बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक और धार्मिक मूल्य भी समाहित हैं, उच्च प्रकार के हैं।

अरबन की दृष्टि में मूल्यों की इसी क्रम व्यवस्था के आधार पर आत्मसाक्षात्कार के स्तर हैं। आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रस्थित आत्मा की पूर्णता उस स्तर पर है, जिसे मूल्यांकन करनेवाली चेतना सर्वोच्च मूल्य समझती है और सर्वोच्च मूल्य वह है जो अनुभूति की पूर्णता में तथा जीवन के सम्यक् संचालन में सबसे अधिक योगदान करता है। जैन दृष्टि में इसे हम वीतरागता और सर्वज्ञता की अवस्था कह सकते हैं।

एक अन्य आध्यात्मिक मूल्यवादी विचारक डब्ल्यू० आर० सार्ली जैन परम्परा के निकट आकर यह कहते हैं कि नैतिक पूर्णता ईश्वर के समान बनने में है। किन्तु कुछ भारतीय परम्परायें तो इससे भी आगे बढ़कर यह कहती हैं कि नैतिक पूर्णता परमात्मा होने में है। आत्मा से परमात्मा, जीव से जिन, साधक से सिद्ध, अपूर्ण से पूर्ण की उपलब्धि में ही नैतिक जीवन की सार्थकता है।

अरबन की मूल्यों की क्रम-व्यवस्था भी भारतीय परम्परा के दृष्टिकोण के निकट ही है। जैन एवं अन्य भारतीय दर्शनों में भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों में यही क्रम स्वीकार किया गया है। अरबन के आर्थिक मूल्य अर्थपुरुषार्थ के, शारीरिक एवं मनोरंजनात्मक मूल्य कामपुरुषार्थ के, साहचर्यात्मक और चारित्रिक मूल्य धर्मपुरुषार्थ के तथा सौन्दर्यात्मक, ज्ञानात्मक और धार्मिक मूल्य मोक्षपुरुषार्थ के तुल्य हैं।

भारतीय दर्शनों में जीवन के चार मूल्य

जिस प्रकार पाश्चात्य आचारदर्शन में मूल्यवाद का सिद्धान्त लोकमान्य है उसी प्रकार भारतीय नैतिक चिन्तन में पुरुषार्थ-सिद्धान्त, जो कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवनमूल्यों का ही सिद्धान्त है, पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। भारतीय विचारकों ने जीवन के चार पुरुषार्थ या मूल्य माने हैं—

१. **अर्थ (आर्थिक मूल्य)**—जीवन यात्रा के निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आवश्यकता होती है; अतः दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले इन साधनों को उपलब्ध करना ही अर्थपुरुषार्थ है।

२. **काम (मनोदैहिक मूल्य)**—जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाना अर्थपुरुषार्थ और उन साधनों का उपभोग करना काम-पुरुषार्थ है। दूसरे शब्दों में विविध इंद्रियों के विषयों का भोग काम-पुरुषार्थ है।

३. **धर्म (नैतिक मूल्य)**—जिन नियमों के द्वारा सामाजिक जीवन या लोकव्यवहार सुचारु रूप से चले, स्व-पर कल्याण हो और जो व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में ले जाये, वह धर्मपुरुषार्थ है।

४. **मोक्ष (आध्यात्मिक मूल्य)**—आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण प्रकटीकरण मोक्ष है।

(अ) जैन दृष्टि में पुरुषार्थचतुष्टय

सामान्यतया यह समझा जाता है निवृत्तिप्रधान जैन दर्शन में मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थ है। धर्मपुरुषार्थ की स्वीकृति उसके मोक्षानुकूल होने में ही है। अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों का उसमें कोई स्थान नहीं है। जैन-विचारकों के अनुसार अर्थ अनर्थ का मूल है,[1] सभी काम दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं।[2] लेकिन यह विचार एकांगी ही माना जायेगा। कोई भी जिनवचन एकान्त या निरपेक्ष नहीं है। जैन विचारकों ने सदैव ही व्यक्ति को स्वपुरुषार्थ से धनोपार्जन की प्रेरणा दी है। वे यह मानते हैं कि व्यक्ति को केवल अपने पुरुषार्थ से उपार्जित सम्पत्ति के भोग करने का अधिकार है। दूसरों के द्वारा उपार्जित सम्पत्ति के भोग करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। गौतमकुलक में कहा गया है कि पिता के द्वारा उपार्जित लक्ष्मी निश्चय ही पुत्र के लिए बहन होती है और दूसरों की लक्ष्मी परस्त्री के समान होती है। दोनों का ही भोग वर्जित है। अतः स्वयं अपने पुरुषार्थ से धन का उपार्जन करके ही उसका भोग करना न्यायसंगत है।[3]

---

१. मरणसमाधि, ६०३.

२. उत्तराध्ययन, १३/१६

३. प्राकृत सूक्तिसरोज, ११।११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनाचार्यों ने विभिन्न वर्ण के लोगों को किन-किन साधनों से धनार्जन करना चाहिए, इसका भी निर्देश किया है। ब्राह्मणों को मुख (विद्या) से, क्षत्रियों को असि (रक्षण) से, वणिकों को वाणिज्य से और कर्मशील व्यक्तियों को शिल्पादि कर्म से धनार्जन करना चाहिए, क्योंकि इन्हीं की साधना में उनको लक्ष्मी का निवास है।[1] यद्यपि यह सही है कि मोक्ष या निर्वाण की उपलब्धि में जो अर्थ और काम बाधक हैं, वे जैनदृष्टि के अनुसार अनाचरणीय एवं हेय हैं। लेकिन दर्शन यह कभी नहीं कहता कि अर्थ और काम पुरुषार्थ एकान्त रूप से हेय हैं। यदि वे एकान्त रूप से हेय होते तो आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव स्त्रियों की ६४ और पुरुषों की ७२ कलाओं का विधान कैसे करते ? क्योंकि उनमें अधिकांश कलाएँ अर्थ और काम पुरुषार्थ से सम्बन्धित हैं।[2] न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और वैवाहिक मर्यादानुकूल काम का जैन विचारणा में समुचित स्थान है। जैन विचारकों ने जिसके त्याग पर बल दिया है वह इन्द्रिय-विषयों का भोग नहीं, भोगों के प्रति आसक्ति या राग-द्वेष की वृत्ति है। जैन मान्यता के अनुसार कर्म-विपाक से उपलब्ध भोगों से बचा नहीं जा सकता। इन्द्रियों के सम्मुख उनके विषय उपस्थित होने पर उनके आस्वाद से भी बचना सम्भव नहीं है, जो सम्भव है वह यह कि उनमें राग-द्वेष की वृत्ति न रखी जाये। इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने जीवन के वासनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक पक्ष को धर्मोन्मुखी बनाने तथा उनके पारस्परिक विरोध को समाप्त करने का भी प्रयास किया है। उनके अनुसार मोक्षाभिमुख परस्पर अविरोध में रहे हुए सभी पुरुषार्थ आचरणीय हैं। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि गृहस्थ उपासक धर्मपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ का इस प्रकार आचरण करे कि कोई किसी का बाधक न हो।[3]

भद्रबाहु (पाँचवी शती) ने तो आचार्य हेमचन्द्र (११वीं शताब्दी) के पूर्व ही यह उद्घोषणा कर दी थी कि जैन परम्परा में तो पुरुषार्थ-चतुष्टय अविरोध रहते हैं। आचार्य बड़े ही स्पष्ट एवं मार्मिक शब्दों में लिखते हैं कि धर्म, अर्थ और काम को भले ही अन्य कोई विचारक परस्पर विरोधी मानते हों, किन्तु जिनवाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान में अवतरित होने के कारण परस्पर असपत्न (अविरोधी) हैं। अपनी-अपनी

---

१. प्राकृत सूक्ति-सरोज, ११।७.

२. देखिए-कल्पसूत्र,

३. योगशास्त्र, १।५२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका के योग्य विहित अनुष्ठान रूप धर्म, स्वच्छाशय प्रयुक्त अर्थ और विस्रम्भयुक्त अर्थात् मर्यादानुकूल वैवाहिक नियन्त्रण से स्वीकृत काम, जिनवाणी के अनुसार, परस्पर अविरोधी हैं।[1] ये पुरुषार्थ परस्पर अविरोधी तभी होते हैं जब वे मोक्षाभिमुख होते हैं और जब वे मोक्षाभिमुख होकर परस्पर अविरोध की स्थिति में हों, असपत्न हों, तो वे सम्यक् होते हैं, इसलिए आचरणीय होते हैं। किन्तु जब मोक्ष मार्ग से विमुख होकर पुरुषार्थ-चतुष्टय परस्पर विरोध में या निरपेक्ष होते हैं, तब वे असम्यक् या अनुचित एवं अनाचरणीय होते हैं।

(ब) बौद्ध दर्शन में पुरुषार्थ चतुष्टय

भगवान् बुद्ध यद्यपि निवृत्ति मार्गी श्रमण परम्परा के अनुगामी हैं, तथापि उनके विचारों में अर्थ एवं काम पुरुषार्थ के सम्बन्ध में भी दिशा-बोध उपलब्ध है। दीघनिकाय में अर्थ की उपलब्धि के लिए श्रम करते रहने का सन्देश उपलब्ध होता है। बुद्ध कहते हैं, आज बहुत सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अब तो सन्ध्या (देर) हो गयी, इस प्रकार श्रम से दूर भागता हुआ मनुष्य धनहीन हो जाता है। किन्तु जो सर्दी-गर्मी आदि को सहकर कठोर परिश्रम करता है, वह कभी सुख से वंचित नहीं होता[2] जैसे प्रयत्नवान रहने से मधुमक्खी का छत्ता बढ़ता है, चींटी का वाल्मीक बढ़ता है, वैसे ही प्रयत्नशील मनुष्य का ऐश्वर्य बढ़ता है।[3] इतना ही नहीं, प्राप्त सम्पदा का उपयोग किस प्रकार हो, इस सम्बन्ध में भी बुद्ध का निर्देश है कि सद्गृहस्थ प्राप्त धन के एक भाग का उपभोग करे, दो भागों को व्यापार आदि कार्यक्षेत्र में लगाये और चौथे भाग को आपत्ति काल में काम आने के लिए सुरक्षित रख छोड़े।[4] आज का प्रगतिशील अर्थ-शास्त्री भी आर्थिक प्रगति के लिए इससे अच्छे सूत्र प्रस्तुत नहीं कर सकता। बुद्ध केवल अर्थशास्त्री के रूप में ही नहीं, वरन् एक सामाजिक अर्थशास्त्र के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे इस बारे में भी पूर्ण सतर्क हैं कि यदि समाज में धन का समुचित वितरण नहीं होगा तो अराजकता और असुरक्षा उत्पन्न होगी। वे कहते हैं, निर्धनों को धन नहीं दिये जाने

---

१. दशवैकालिकनिर्युक्ति, २६२–२६४.
२. दीघनिकाय, ३।८।२.
३. वही, ३।८।४.
४. वही, ३।८।४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से दरिद्रता बहुत बढ़ गयी और दरिद्रता के बहुत बढ़ जाने से चोरी बहुत बढ़ गयी।[१] चोरी के बहुत बढ़ने का अर्थ धन की असुरक्षा है। इसके पीछे बुद्ध का निर्देश यही है कि समाज में धन का समवितरण होना चाहिए ताकि समाज का कोई भी वर्ग अभाव से पीड़ित न हो। बुद्ध की दृष्टि में अर्थ को कभी भी धर्म से विमुख नहीं होना चाहिए, वे धर्मयुक्त व्यवसाय में नियोजित होने का ही निर्देश देते हैं।[२] जो जीवन में धन का दान एवं भोग के रूप में समुचित उपयोग नहीं करता, उसका धन निरर्थक है, क्योंकि मरनेवाले के पीछे उसका धन आदि नहीं जाता है और न धन से जरामरण से ही छुटकारा मिल सकता है।[3] कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करता है। उदान में बुद्ध कहते हैं, "ब्रह्मचर्य जीवन के साथ व्रतों का पालन करना ही सार है, यह एक अन्त है। कामभोगों के सेवन में कोई दोष नहीं, यह दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है, मिथ्याधारणा बढ़ती है, व्यक्ति मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।"[४] इस आधार पर काम-पुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण यही प्रतीत होता है कि जो काम धर्म-अविरुद्ध है, जिससे आध्यात्मिक प्रगति या चित्त की विकलता समाप्त होती है; वह काम आचरणीय है। इसके विपरीत धर्मविरुद्ध मानसिक अशान्तिकारक काम या विषयभोग अनाचरणीय है।

बुद्ध की दृष्टि में भी जैन विचार के समान धर्मपुरुषार्थ निर्वाण या मोक्षपुरुषार्थ का साधन है। मज्झिमनिकाय में बुद्ध कहते हैं, "भिक्षुओं मैंने बेड़े की भाँति पार जाने के लिए (निर्वाणलाभ के लिए) तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़ रखने के लिए नहीं।"[५] अर्थात् निर्वाण की दिशा में ले जानेवाला धर्म ही आचरणीय है। बुद्ध की दृष्टि में जो धर्म निर्वाण की दिशा में नहीं ले जाता, जिससे निर्वाणलाभ में बाधा आती हो वह त्याग देने योग्य है। इतना ही नहीं, बुद्ध धर्म को एक साधन के रूप में स्वीकार करते हैं और साध्य की उपलब्धि के लिए उसे भी छोड़ देने का सन्देश देते हैं। उनकी दृष्टि में परममूल्य तो निर्वाण ही है।

---

१. दीघनिकाय, ३।३।४.

२. सुत्तनिपात, २६।२९.

३. मज्झिमनिकाय, २।३२।४.

४. उदान, जात्यन्धवर्ग, ८.

५. मज्झिमनिकाय, १।२२।४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गीता में पुरुषार्थ चतुष्टय

पुरुषार्थचतुष्टय के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण जैन परम्परा से भिन्न नहीं है। गीता की दृष्टि में भी मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। वही परम मूल्य है। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ सम्बन्धी धृति को गीताकार ने राजसी कहा है।[१] लेकिन यह मानना भी भ्रान्तिपूर्ण होगा कि गीता में इन पुरुषार्थों का कोई स्थान नहीं है। गीताकार जब काम की निन्दा करता है,[२] धर्म को छोड़ने की बात करता है,[३] तो मोक्षपुरुषार्थ या परमात्मा की प्राप्ति की अपेक्षा से ही। मोक्ष ही परमाध्य है; धर्म, अर्थ और काम का मोक्ष के निमित्त परित्याग किया जा सकता है। गीताकार की दृष्टि में भी यदि धर्म, अर्थ और काम मोक्ष के अविरोधी हैं तो वे ग्राह्य हैं। गीताकार की मान्यता भी यही प्रतीत होती है कि अर्थ और काम को धर्माधीन होना चाहिए और धर्म को मोक्षाभिमुख होना चाहिए। धर्मयुक्त, यज्ञ (त्याग) पूर्वक एवं वर्णानुसार किया गया आजीविकोपार्जन गीता के अनुसार विहित ही है। यद्यपि धन की चिन्ता में डूबे रहनेवाले और धन का तथा धन के द्वारा किये गये दान-पुण्यादि का अभिमान करनेवाले को गीता में अज्ञानी कहा गया है[४] तथापि इसका तात्पर्य यही है कि न तो धन को एकमात्र साध्य बना लेना चाहिए और न उसका तथा उसके द्वारा किये गये सत्कार्यों का अभिमान ही करना चाहिए। इसी प्रकार कामपुरुषार्थ के सम्बन्ध में गीता का दृष्टिकोण यही है कि उसे धर्म-अविरुद्ध होना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्राणियों में धर्म-अविरुद्ध काम मैं हूँ।[५] सभी भोगों से विमुख होने की अपेक्षा गीताकार की दृष्टि में यही उचित है कि उनमें आसक्ति का त्याग किया जाये। वस्तुतः यह दृष्टिकोण भोगों को मोक्ष के अविरोध में रखने का प्रयास है। इसी प्रकार गीता जब यह कहती है कि बिना यज्ञ के जो भोग करता है, वह चोर है, तो उसका प्रमुख दृष्टिकोण कामपुरुषार्थ को धर्माभिमुख बनाने का ही है।[६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता की विचारधाराओं

---

१. गीता, १८।३४.
२. वही, १६।२१.
३. वही, १८।६६.
४. वही, १६।१०, १२, १५.
५. वही, ७।११.
६. वही, ३।१३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में चारों पुरुषार्थ स्वीकृत हैं, यद्यपि सभी ने इस बात पर बल दिया है कि अर्थ और काम पुरुषार्थ को धर्म-अविरुद्ध होना चाहिए और धर्म को सदैव ही मोक्षाभिमुख होना चाहिए। वस्तुतः यह दृष्टिकोण न केवल जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराओं का है, वरन् समग्र भारतीय चिन्तन की इस सन्दर्भ में यही दृष्टि है। मनु कहते हैं कि धर्म-विहीन अर्थ और काम को छोड़ देना चाहिए।[१] महाभारत में भी कहा है कि जो अर्थ और काम धर्म-विरोधी हों, उन्हें छोड़ देना चाहिए।[२] कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में और वात्स्यायन अपने कामसूत्र में लिखते हैं कि धर्म और अर्थ से अविरोध में रहे हुए काम का ही सेवन करना चाहिए।[३]

इस प्रकार भारतीय चिन्तकों का प्रयास यही रहा है कि चारों पुरुषार्थों को इस प्रकार संयोजित किया जाये कि वे परस्पर सापेक्ष होकर अविरोध की अवस्था में रहें। इस हेतु उन्होंने उनका पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने का प्रयास भी किया। कौन सा पुरुषार्थ सर्वोच्च मूल्यवाला है' इस सम्बन्ध में महाभारत में गहराई से विचार किया गया है और इसके फलस्वरूप विभिन्न दृष्टिकोण सामने भी आये—

१. अर्थ ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि धर्म और काम दोनों अर्थ के होने पर उपलब्ध होते हैं। धन के अभाव में न तो काम-भोग ही प्राप्त होते हैं, और न दान-पुण्यादि धर्म ही किया जा सकता है।[४] कौटिल्य ने भी अर्थ-शास्त्र में इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है।[५]

२. काम ही परम पुरुषार्थ है, क्योंकि विषयों की इच्छा या काम के अभाव में न तो कोई धन प्राप्त करना चाहता है, और न कोई धर्म करना चाहता है। काम ही अर्थ और धर्म से श्रेष्ठ है।[६] जैसे दही का सार मक्खन है, वैसे ही अर्थ और धर्म का सार काम है।[७]

३. अर्थ, काम और धर्म तीनों ही स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं, तीनों का समान

---

१. मनुस्मृति, ४।१७६.
२. महाभारत, अनुशासनपर्व, ३।१८-१९.
३. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १।१७.
४. महाभारत, शान्तिपर्व, १६७।१२-१३.
५. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १।७.
६. महाभारत, शान्तिपर्व, १६७।२९.
७. वही, १६७।३५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप से सेवन करना चाहिए। जो एक का सेवन करता है वह अधम है, जो दो के सेवन में निपुण है वह मध्यम है और जो इन तीनों में समान रूप से अनुरक्त है, वही मनुष्य उत्तम है।[1]

४. धर्म ही श्रेष्ठ गुण (पुरुषार्थ) है, अर्थ मध्यम है और काम सबकी अपेक्षा निम्न है। क्योंकि धर्म से ही मोक्ष की उपलब्धि होती है, धर्म पर ही लोक-व्यवस्था आधारित है और धर्म में ही अर्थ समाहित है।[2]

५. मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष उपाय के रूप में ज्ञान और अनासक्ति यही परम कल्याणकारक है [3]

चारों पुरुषार्थों की तुलना एवं क्रमनिर्धारण

पुरुषार्थचतुष्टय के सम्बन्ध में उपर्युक्त विभिन्न दृष्टिकोण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, लेकिन सापेक्षिक दृष्टि से इनमें विरोध नहीं रह जाता है। साधन की दृष्टि से विचार करने पर अर्थ ही प्रधान प्रतीत है, क्योंकि अर्थाभाव में दैहिक माँगों (काम) की पूर्ति नहीं होती। दूसरी ओर, लोक के अर्थाभाव से पीड़ित होने पर धर्मव्यवस्था या नीति भी समाप्त हो जाती है। कहा ही गया है—भूखा कौन सा पाप नहीं करता ?[4]

यदि साधक (व्यक्ति) की दृष्टि से विचार करें तो दैहिक मूल्य (काम) ही प्रधान प्रतीत होता है। मनोदैहिक मूल्यों (इच्छा एवं काम) के अभाव में न तो नीति-अनीति का प्रश्न खड़ा होता है और न आर्थिक साधनों की ही कोई आवश्यकता। दूसरे, धर्मसाधन और आध्यात्मिक प्रगति भी शरीर से सम्बन्धित है। कहा गया है—धर्मसाधन के लिए शरीर ही प्राथमिक है।[5] दैहिक माँगों की पूर्ति के अभाव में चित्त-शान्ति भी कैसे होगी और जिनका चित्त अशान्त है वह क्या आध्यात्मिक विकास करेगा ?

इसी प्रकार जब हम साधनामार्ग पर सामाजिक सन्दर्भ में विचार करते हैं, तो धर्म ही प्रधान प्रतीत होता है। धर्म ही सामाजिक व्यवस्था

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, १६७।४०,
२. वही, १६७।८.
३. वही, १६७।४६.
४. बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?
५. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का आधार है। धर्म के अभाव में सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है और अस्तव्यस्त सामाजिक जीवन में अर्थोत्पादन एवं आध्यात्मिक साधना दोनों ही सम्भव नहीं होती। भोगों की समरसता समाप्त हो जाती है।

साध्य या आदेश की दृष्टि से विचार करने पर मोक्ष ही प्रधान प्रतीत होता है, क्योंकि सारे प्रयास जिसके लिए हैं वह तो आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति ही है। संक्षेप में साधनात्मक दृष्टि से आर्थिक मूल्य (अर्थ,) जैविक दृष्टि से मनोदैहिक मूल्य (काम), सामाजिक दृष्टि से नैतिक मूल्य (धर्म) और साध्यात्मक दृष्टि से आध्यात्मिक मूल्य (मोक्ष) प्रमुख हैं।

लेकिन ये सभी मूल्य या पुरुषार्थ एक-दूसरे से स्वतन्त्र या निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते। मोक्ष या आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए धर्म आवश्यक है और धर्मसाधना के लिए शरीर आवश्यक है, शरीर के निर्वाह के लिए शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ति (काम) आवश्यक है, और उनकी पूर्ति के लिए साधन (अर्थ) जुटाना आवश्यक है। इस प्रकार सभी परस्पर सापेक्ष हैं और सभी आवश्यक भी हैं। जैन ग्रन्थ निशीथभाष्य में कहा गया है कि ज्ञानादि मोक्ष के साधन हैं और ज्ञानादि का साधन देह है और देह का साधन आहार है।[1] इस प्रकार चारों पुरुषार्थों का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है, तथापि सभी का मूल्य समान नहीं माना गया है। जैन विचारकों के अनुसार चारों पुरुषार्थों में एक साध्य-साधन भाव है जिसमें अर्थ मात्र साधन है और मोक्ष मात्र साध्य है। काम अर्थ की अपेक्षा से साध्य और धर्म की अपेक्षा से साधन है। धर्म को अर्थ और काम का साध्य और मोक्ष का साधन माना गया है। जब साधन ही साध्य बन जाता है वह दूसरे के विरोध में खड़ा हो जाता है और जीवन के विकास को अवरुद्ध करता है। जैनागम साहित्य में मम्मन सेठ की कथा अर्थ को साध्य मान लेने का सबसे अच्छा उदाहरण है, जिससे प्रकट है कि जब 'धन' साध्य बन जाता है तो वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों जीवन में कष्ट ही लाता है। इसी आशय को सामने रखते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि 'धन' में प्रमत्त पुरुष का धन अर्थात् उस व्यक्ति का धन जिसके लिए धन ही साध्य है न तो इस लोक में और न परलोक में ही ऐसे आदमी की रक्षा कर सकता

---

१. निशीथभाष्य, ४७९१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। धन के असीम मोह से मूढ़ बना हुआ वह व्यक्ति, दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग को जानते हुए भी मार्ग नहीं देखता, वैसे ही वह भी न्याय-मार्ग या धर्ममार्ग को जानते हुए भी उसे नहीं देख पाता। जैसे एक ही नगर को जानेवाले भिन्न-भिन्न मार्ग परस्पर भिन्न दिशाओं में स्थित होते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं कहे जाते, उसी प्रकार परस्पर विरोधी पुरुषार्थ मोक्षाभिमुख होने पर असपत्न (अविरोधी) बन जाते हैं। यहीं उनमें एक मूल्यात्मक तारतम्य स्पष्ट हो जाता है, जिसमें सर्वोच्च स्थान मोक्ष का है, उसके बाद धर्म का स्थान है। धर्म के बाद काम और सबसे अन्त में अर्थ का स्थान आता है। किन्तु अर्थपुरुषार्थ जब लोकोपकार के लिए होता है, तब उसका स्थान कामपुरुषार्थ से ऊपर होता है। पाश्चात्य विचारक अरबन ने मूल्य-निर्धारण के तीन नियम प्रस्तुत किये हैं—(१) साधनात्मक या परतः मूल्यों की अपेक्षा साध्यात्मक या स्वतः मूल्य उच्चतर हैं; (२) अस्थायी या अल्पकालिक मूल्यों की अपेक्षा स्थायी एवं दीर्घकालिक मूल्य उच्चतर है; (३) असृजक मूल्यों की अपेक्षा सृजक मल्य उच्चतरहै।

यदि प्रथम नियम के आधार पर विचार करें, तो धन, सम्पत्ति, श्रम, आदि आर्थिक मूल्य जैविक, सामाजिक और धार्मिक (काम और धर्म) मूल्यों की पूर्ति के साधनमात्र हैं, वे स्वतः साध्य नहीं हैं। भारतीय चिन्तन में धन की तीन गतियाँ मानी गयी हैं—(१) दान, (२) भोग और (३) नाश। वह दान के रूप में धर्मपुरुषार्थ का और भोग के रूप में कामपुरुषार्थ का साधन सिद्ध होता है। कामपुरुषार्थ सामान्य रूप में स्वतः साध्य प्रतीत होता है, लेकिन विचारपूर्वक देखने पर वह भी स्वतः साध्य नहीं कहा जा सकता। प्रथमतः जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में जो भोग किये जाते हैं, वे स्वयं साध्य नहीं, वरन् जीवन या शरीर-रक्षण के साधनमात्र हैं। इन सबका साध्य स्वास्थ्य एवं जीवन है। हम जीने के लिए खाते हैं, खाने के लिए नहीं जीते हैं। यदि हम कामपुरुषार्थ को कला, दाम्पत्य, रति या स्नेह के रूप में मानें तो वह भी आनन्द का एक साधन ही ठहरता है। इस प्रकार कामपुरुषार्थ का भी स्वतः मूल्य सिद्ध नहीं होता। उसका जो भी स्थान हो सकता है वह मात्र उसके द्वारा व्यक्ति के आनन्द में की गयी अभिवृद्धि पर निर्भर करता है। यदि अल्पकालिकता या स्थायित्व की दृष्टि से विचार करें तो कामपुरुषार्थ मोक्ष

---

१. फण्डामेण्टल आफ एथिक्स, पृ० १७०–१७१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं धर्म की अपेक्षा अल्पकालिक ही है। भारतीय विचारकों ने कामपुरुषार्थ को निम्न स्थान उसकी क्षणिकता के आधार पर ही दिया है। तीसरे अपने फल या परिणाम के आधार पर भी काम-पुरुषार्थ निम्न स्थान पर ठहरता है, क्योंकि वह अपने पीछे दुष्पूर-तृष्णा को छोड़ जाता है। उससे उपलब्ध होनेवाले आनन्द की तुलना खुजली खुजाने से की गयी है, जिसकी फल-निष्पत्ति क्षणिक सुख के बाद तीव्र वेदना में होती है। धर्मपुरुषार्थ सामाजिक धार्मिक मूल्य के रूप में स्वतः साध्य है, लेकिन वह भी मोक्ष का साधन माना गया है जो सर्वोच्च मूल्य है। इस प्रकार अरबन के उपर्युक्त मूल्य निर्धारण के नियमों के आधार पर भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों का यही क्रम सिद्ध होता है जो कि जैन और दूसरे भारतीय आचार-दर्शनों में स्वीकृत है, जिसमें अर्थ सबसे निम्न मूल्य है और मोक्ष सर्वोच्च मूल्य है।

मोक्ष सर्वोच्च मूल्य क्यों ?

इस सम्बन्ध में ये तर्क दिये जा सकते हैं—

१. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवमात्र की प्रवृत्ति दुःख-निवृत्ति की ओर है। क्योंकि मोक्ष दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है; अतः वह सर्वोच्च मूल्य है। इसी प्रकार आनन्द की उपलब्धि भी प्राणीमात्र का लक्ष्य है, चूँकि मोक्ष परम आनन्द की अवस्था है, अतः वह सर्वोच्च मूल्य है।

२. मूल्यों की व्यवस्था में साध्य साधक की दृष्टि से एक क्रम होना चाहिए और उस क्रम में कोई सर्वोच्च एवं निरपेक्ष मूल्य होना चाहिए। मोक्ष पूर्ण एवं निरपेक्ष स्थिति है। अतः वह सर्वोच्च मूल्य है। मूल्य वह है जो किसी इच्छा की पूर्ति करे। अतः जिसके प्राप्त हो जाने पर कोई इच्छा ही नहीं रहती है, वही परम मूल्य है। मोक्ष में कोई अपूर्ण इच्छा नहीं रहती है, अतः वह परम मूल्य है।

३. सभी साधन किसी साध्य के लिए होते हैं और साध्य की उपस्थिति अपूर्णता की सूचक है। मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् कोई साध्य नहीं रहता, इसलिए वह परम मूल्य है। यदि हम किसी अन्य मूल्य को स्वीकार करेंगे तो वह साधन-मूल्य ही होगा और साधन-मूल्य को परम मूल्य मानने पर नैतिकता में सार्वलौकिकता एवं वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जायेगी।

४. मोक्ष अक्षर एवं अमृतपद है, अतः स्थायी मूल्यों में वह सर्वोच्च मूल्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. मोक्ष आन्तरिक प्रकृति या स्वस्वभाव है। वही एकमात्र परम मूल्य हो सकता है, क्योंकि उसमें हमारी प्रकृति के सभी पक्ष अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति एवं पूर्ण समन्वय की अवस्था में होते हैं।

भारतीय और पाश्चात्य मूल्य सिद्धान्तों की तुलना

अरबन और एबरेट ने जीवन के विभिन्न मूल्यों की उच्चता एवं निम्नता का जो क्रम निर्धारित किया है, वह भी भारतीय चिन्तन से काफी साम्य रखता है। अरबन ने मूल्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

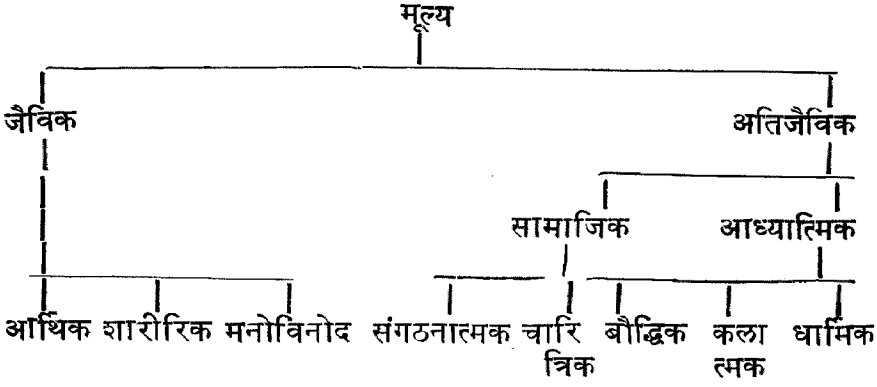

अरबन ने सबसे पहले मूल्यों को दो भागों में बाँटा है—(१) जैविक और (२) अति जैविक। अतिजैविक मूल्य भी सामाजिक और आध्यात्मिक ऐसे दो प्रकार के हैं। इस प्रकार मूल्यों के तीन वर्ग बन जाते हैं—

१. जैविक मूल्य—शारीरिक, आर्थिक और मनोरंजन के मूल्य जैविक मूल्य हैं। आर्थिक मूल्य मौलिक-रूप से साधन-मूल्य हैं, साध्य नहीं। आर्थिक शुभ स्वतः मूल्यवान नहीं हैं, उनका मूल्य केवल शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को अर्जित करने के साधन होने में है। सम्पत्ति स्वतः वाञ्छनीय नहीं है, बल्कि अन्य शुभों का साधन होने के कारण वाञ्छनीय है। सम्पत्ति एक साधन-मूल्य है, साध्य-मूल्य नहीं। शारीरिक मूल्य भी वैयक्तिक मूल्यों के साधक हैं। स्वास्थ्य और शक्ति से युक्त परिपुष्ट शरीर को व्यक्ति अच्छे जीवन के अन्य मूल्यों के अनुसरण में प्रयुक्त कर सकता है। क्रीड़ा स्वयं मूल्य है; किन्तु वह भी मुख्यतया साधक-मूल्य है। उसका साध्य है शारीरिक स्वास्थ्य। मनोरंजन चित्त-विक्षोभ को समाप्त करने का साधन है। क्रीड़ा और मनोरंजन उच्चतर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल्यों के अनुसरण के लिए हमें शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रखते हैं।

२. **सामाजिक मूल्य**—सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत् साहचर्य तथा चरित्र के मूल्य आते हैं। आज के मानवतावादी युग में तो इन मूल्यों का महत्त्व अत्यन्त व्यापक हो गया है। यद्यपि ये दोनों मूल्य किसी अन्य साध्य के साधन-स्वरूप प्रयुक्त होते हैं, परन्तु कुछ महान् पुरुषों ने सच्चरित्रता एवं समाजसेवा को जीवन के परम लक्ष्य के रूप में ग्रहण किया है। मनुष्य समाज का अंग है। एक असीम आत्मा का साक्षात्कार समाज के साथ अपनी वैयक्तिकता का एकाकार करके ही किया जा सकता है।

३. **आध्यात्मिक मूल्य**—मूल्यों के इस वर्ग के अन्तर्गत् बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक—तीन प्रकार के मूल्य आते हैं। ये तीनों मूल्य मूलतः साध्य मूल्य हैं। ये आत्मा की सर्वश्रेष्ठ या परम आदर्श प्रकृति अर्थात् सत्यं, शिवं और सुन्दरं की अभिरुचियों को तृप्ति प्रदान करते हैं तथा जैविक एवं सामाजिक मूल्यों से श्रेष्ठ कोटि के हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय दर्शनों के पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ और काम जैविक मूल्य हैं और धर्म और मोक्ष अतिजैविक मूल्य हैं। अरबन ने जैविक मूल्यों में आर्थिक, शारीरिक और मनोरंजात्मक मूल्य माने हैं। इनमें आर्थिक मूल्य अर्थ-पुरुषार्थ तथा शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य कामपुरुषार्थ के समान हैं। अरबन के द्वारा अतिजैविक मूल्यों में सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य माने गये हैं। उनमें सामाजिक मूल्य धर्म-पुरुषार्थ से और आध्यात्मिक मूल्य मोक्षपुरुषार्थ से सम्बन्धित हैं। जिस प्रकार अरबन ने मूल्यों में सबसे नीचे आर्थिक मूल्य माने हैं, उसी प्रकार भारतीय दर्शन में भी अर्थपुरुषार्थ को तारतम्य की दृष्टि से सबसे नीचे माना है। जिस प्रकार अरबन के दर्शन में शारीरिक और मनोरंजन सम्बन्धी मूल्यों का स्थान आर्थिक मूल्यों से ऊपर, लेकिन सामाजिक मूल्यों से नीचे है उसी प्रकार भारतीय दर्शनों में भी कामपुरुषार्थ अर्थपुरुषार्थ से ऊपर लेकिन धर्मपुरुषार्थ से नीचे है। जिस प्रकार अरबन ने आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोच्च माना है, उसी प्रकार भारतीय दर्शन में भी मोक्ष को सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। अरबन के दृष्टिकोण की भारतीय चिन्तन से कितनी अधिक निकटता है, इसे निम्न तालिका से समझा जा सकता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य दृष्टिकोण	भारतीय दृष्टिकोण	जैन दृष्टिकोण
मूल्य	पुरुषार्थ	
जैविक मूल्य		
१. आर्थिक मूल्य	अर्थपुरुषार्थ	अर्थ
२. शारीरिक मूल्य	कामपुरुषार्थ	काम
३. मनोरंजनात्मक मूल्य	,, ,,	,,
सामाजिक मूल्य		
४. संगठनात्मक मूल्य	धर्मपुरुषार्थ	व्यवहारधर्म
५. चारित्रिक मूल्य	,, ,,	निश्चय धर्म
आध्यात्मिक मूल्य	मोक्षपुरुषार्थ	
६. कलात्मक	आनन्द (संकल्प)	अनन्त सुख एवं शक्ति
७. बौद्धिक	चित् (ज्ञान)	अनन्तज्ञान
८. धार्मिक	सत् (भाव)	अनन्तदर्शन

इस प्रकार अपनी मूल्य-विवेचना में प्राच्य और पाश्चात्य विचारक अन्त में एक ही निष्कर्ष पर आ जाते हैं और वह निष्कर्ष यह है कि आध्यात्मिक मूल्य या आत्मपूर्णता ही सर्वोच्च मूल्य है एवं वही नैतिक जीवन का साध्य है।

यद्यपि भारतीय दर्शन में सापेक्ष दृष्टि से मूल्य सम्बन्धी सभी विचार स्वीकार कर लिये गये हैं, फिर भी उसकी दृष्टि में आत्मपूर्णता, वीत-रागावस्था या समभाव की उपलब्धि ही उसका एकमात्र परम मूल्य है, किन्तु उसके परममूल्य होने का अर्थ एक सापेक्षिक क्रम व्यवस्था में सर्वोच्च होना है। किसी मूल्य की सर्वोच्चता भी अन्यमूल्य सापेक्ष ही होती है, निरपेक्ष नहीं। अतः मूल्य, मूल्य-विश्व और मूल्यबोध सभी सापेक्ष है।

निदेशक
पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी–५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

(तत्वार्थसूत्र और कसायपाहुड सुत्त के सन्दर्भ में)

—प्रो० सागरमल जैन*

व्यक्ति के आध्यात्मिक शुद्धि के विभिन्न स्तरों का निर्धारण करने के लिए जैन दर्शन में गुणस्थान की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। उसमें व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का मूल्यांकन इसी अवधारणा के आधार पर होता है। यद्यपि गुणस्थान की अवधारणा जैन धर्म की एक प्रमुख अवधारणा है, तथापि प्राचीन स्तर के जैन आगमों यथा—आचाराङ्ग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि में इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम समवायांग में जीवस्थान के नाम से इसका उल्लेख हुआ है। समवायांग में यद्यपि १४ गुणस्थानों के नामों का निर्देश हुआ है, किन्तु उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान (जीवठाण) कहा गया है।[१] समवायांग के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में गुणस्थानों के १४ नामों का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति में उपलब्ध है, किन्तु वहाँ भी नामों का निर्देश होते हुए भी उन्हें गुणस्थान (गुणठाण) नहीं कहा गया है।[२] यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मूल

* निदेशक, पार्श्वनाथ शोधपीठ वाराणसी-५

१. कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाण पण्णत्ता, तं जहा—मिच्छादिट्ठी; सासायणसम्मादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी, अविरयसम्मादिट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, निअट्टिबायरे, अनिअट्टिबायरे, सुहुमसंपराएउवसामए वा खवए वा, उवसंतमोहे, खीणमोहे, सजोगीकेवली, अयोगीकेवली।

—समवायांग (सम्पा० मधुकर मुनि), १४।९५

२. मिच्छादिट्ठी सासायणे य तह सम्ममिच्छादिट्ठी य।
अविरयसम्मदिट्ठी विरयाविरए पमत्ते य॥
तत्तो य अप्पमत्तो नियट्टिअनियट्टिबायरे सुहुमे।
उवसंतखीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य॥

—निर्युक्ति संग्रह (आवश्यकनिर्युक्ति), पृ० १४९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक सूत्र जिसकी निर्युक्ति में ये गाथाएँ आई हैं—मात्र चौदह भूतग्राम हैं,—इतना बताती है, निर्युक्ति उन १४ भूत ग्रामों का विवरण देती है। फिर उसमें इन १४ गुणस्थानों का विवरण दिया गया है। किन्तु ये गाथाएँ प्रक्षिप्त लगती हैं, क्योंकि हरिभद्र (८ वीं शती) ने आवश्यक निर्युक्ति की टीका में 'अधुनामुमेव गुणस्थान द्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकार···' कहकर इन दोनों गाथाओं को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन निर्युक्तियों के रचना काल में भी गुणस्थान की अवधारणा नहीं थी। निर्युक्तियों के गाथा क्रम में भी इनकी गणना नहीं की जाती है।[1] इससे यही सिद्ध होता है कि नियुक्ति में ये गाथाएँ संग्रहणीसूत्र से लेकर प्रक्षिप्त की गई हैं। प्राचीन प्रकीर्णकों में भी गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है। श्वेताम्बर परम्परा में इन १४ अवस्थाओं के लिए 'गुणस्थान' शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग हमें आवश्यकचूर्णि (७वीं शती) में मिलता है, उसमें लगभग तीन पृष्ठों में इसका विवरण दिया गया है।[2] जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है उसमें कसायपाहुड को छोड़कर षट्खण्डागम[3];

---

१. चोद्दसहिं भूयगामेहिं ·····वीसाए असमाहिठापेहि ।।

—आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्र) भाग २, प्रका० श्री भेरूलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई, वीर सं० २५०८; पृ० १०६-१०७.

२. तत्थ इमाति चोद्दस गुणट्ठाणाणि·····अजोगिकेवली नाम सलेसीपडिवन्नओ, सो य तीहिं जोगेहिं विरहितो जाव कखगघङ इच्चेताइं पंचहस्सक्खराइं उच्चरिज्जंति एवतियं कालमजोगिकेवली भवितूण ताहे सव्वकम्मविणिमुक्को सिद्ध भवति ।

—आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि), उत्तर भाग, पृ० १३३-१३६, रतलाम १९२९

३. एदेसि चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाण परुवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णायव्वाणि, भवंति मिच्छादिट्ठि····· सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि

—षट्खण्डागम (सत्प्ररूपणा), प्रका० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (पुस्तक १ द्वि० सं० सन् १९७३, पृ० १५४-२०१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार[1] और भगवती आराधना[2] जैसे अध्यात्म प्रधान ग्रन्थों में तथा तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थ-सिद्धि[3], भट्ट अकलंक के राजवार्तिक[4], विद्यानन्दी के श्लोकवार्तिक[5] आदि दिगम्बर आचार्यों की टीकाओं में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हुआ है। उपर्युक्त ग्रन्थों के मूल सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि षट्खण्डागम को छोड़कर शेष सभी इसे गुणस्थान के नाम से अभिहित करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में भी आवश्यक-

---

१. मिच्छादिट्ठी सासादणो य मिस्सो असंजदो चेव।
देसविरदो पमत्तो आपमत्तो तह य णायव्वो।। १५४ ।।
एत्तो अपुव्वकरणो आणियट्टी सुहुमसंपराओ य।
उवसंतखीणमोहो सजोगिकेवलिजिणे अजोगी य ।। १५५ ।।
सुरणारयेसु चत्तारि होंति तिरियेसु जाण पंचेव।
मणुसगदीएवि तहा चोद्दसगुणणामधेयाणि ।। १५९ ।।
—मूलाचार (पर्याप्त्यधिकार), पृ० २७३-२७९; मणिकचन्ददिगम्बर ग्रन्थमाला (२३), बम्बई, वि० सं० १९८०।

२. अध खवयसेढिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो।
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ।। २०८७ ।।
अणिवित्तिकरणणामं णवमं गुणठाणयं च अधिगम्म।
णिद्दाणिद्दा पयलापयला तध थीणगिद्धि च ।। २०८८ ।।
—भगवती आराधना, भाग २ (सम्पा० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री) पृ० ८९० (विशेष विवरण हेतु देखें गाथा—२०७२ से २१२६ तक।)

३. सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद देवनन्दी) सूत्र १-८ की टीका, पृ० ३०-४० तथा ९-१२ की टीका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५५.

४. राजवार्तिक (भट्ट अकलंक) ९-१०।११, पृ० ५८८

५. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकम् (विद्यानन्दी), निर्णयसागर प्रेस सन् १९१८ देखें—गुणस्थानापेक्ष·····१०-३;···गुणस्थानभेदेन···९-३६-४, पृ० ५०३,··· अपूर्वकरणादीनां···। ९-३७-२; विशेष विवरण हेतु देखें—९।३३-४४ तक की सम्पूर्ण व्याख्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूर्णि[1], तत्त्वार्थभाष्य की सिद्धसेनगणि की वृत्ति[2], हरिभद्र की तत्त्वार्थसूत्र की टीका[3] आदि में इस सिद्धान्त का विस्तृत उल्लेख पाया जाता है।

हमारे लिये आश्चर्य का विषय तो यह है कि आचार्य उमास्वाति ने जहाँ अपने तत्त्वार्थ सूत्र में जैन धर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है, वहाँ उन्होंने १४ गुणस्थानों का स्पष्ट रूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया है। तत्त्वार्थभाष्य, जो तत्त्वार्थसूत्र पर उमास्वाति की स्वोपज्ञ टीका मानी जाती है, उसमें भी कहीं गुणस्थान की अवधारणा का उल्लेख नहीं है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र के रचना काल तक जैनधर्म में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि उस काल तक गुणस्थान की अवधारणा विकसित हो चुकी थी तो फिर उमास्वाति ने अपने मूल ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र में अथवा उसकी स्वोपज्ञ-टीका तत्त्वार्थभाष्य में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? जबकि वे गुणस्थान-सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यवहृत कुछ पारिभाषिक शब्दों का, यथा—बादर-संपराय, सूक्ष्म-संपराय, उपशान्त मोह, क्षीण मोह आदि का स्पष्ट रूप से प्रयोग करते हैं। यहाँ यह तर्क भी युक्ति संगत नहीं है कि उन्होंने ग्रन्थ को संक्षिप्त रखने के कारण उसका उल्लेख नहीं किया हो, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय में उन्होंने आध्यात्मिक-विशुद्धि (निर्जरा) की दस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बा सूत्र बनाया है।[4] पुनः तत्त्वार्थभाष्य तो उनका एक व्याख्यात्मक

१. आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि), उत्तर भाग, पृ० १३३-१३६।

२. एतस्य त्रयः स्वामिनश्चतुर्थ–पञ्चम षष्ठ गुणस्थानवर्तिनः···। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (सिद्धसेन गणि कृत भाष्यानुसारिणिका समलङ्कृतं–सं० हीरालाल रसिकलाल कापडिया) ९-३५ की टीका

३. श्रीतत्वार्थसूत्रम् (टीका-हरिभद्र), ऋषभदेव केशरीमल संस्था रतलाम सं० १६६२, पृ० ४६५-४६६

४. सम्यग्दृष्टिश्रावक विरतान्ततवियोजकदर्शन मोहक्षपकोपशमकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाःक्रमशो संख्येयगुणनिर्जराः ९-४७
—तत्वार्थसूत्र, नवक अध्याय, पृ० १३६; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी १९८५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ है, यदि उनके सामने गुणस्थान की अवधारणा होती तो उसका वे उसमें अवश्य प्रतिपादन करते। तत्त्वार्थभाष्य में भी गुणस्थान सिद्धान्त की अनुपस्थिति से यह प्रतिफलित होता है कि तत्त्वार्थभाष्य उमास्वाति की ही स्वोपज्ञ टीका है। क्योंकि यदि तत्त्वार्थभाष्य उमास्वाति की स्वोपज्ञ टीका न होती, तो तत्त्वार्थसूत्र की अन्य श्वेताम्बर-दिगम्बर सभी टीकाओं की भाँति, उसमें भी कहीं न कहीं गुणस्थान की अवधारणा का प्रतिपादन अवश्य होता। इस आधार पर पुनः हमें यह भी मानना होगा कि तत्त्वार्थभाष्य, तत्त्वार्थसूत्र की सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर टीकाओं की अपेक्षा प्राचीन और तत्त्वार्थसूत्र की समकालिक रचना है। क्योंकि यदि वह परवर्ती होता और अन्य दिगम्बर-श्वेताम्बर टीकाकारों से प्रभावित होता तो उसमें कहीं न कहीं गुणस्थान की अवधारणा अथवा गुणस्थान शब्द का प्रयोग अवश्य ही होता। क्योंकि तत्त्वार्थभाष्य को छोड़कर तत्त्वार्थसूत्र की एक भी श्वेताम्बर या दिगम्बर टीका ऐसी नहीं है, जिसमें कहीं न कहीं गुणस्थान की चर्चा नहीं हुई हो।

यद्यपि पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा तत्त्वार्थभाष्य की स्वोपज्ञता स्वीकार की गई है।[1] किन्तु उनके अतिरिक्त अन्य दिगम्बर विद्वानों की जो यह अवधारणा है कि तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थसूत्र पर स्वयं उमास्वाति की टीका नहीं है बल्कि परवर्ती किसी अन्य उमास्वाति नामक श्वेताम्बर आचार्य की रचना है[2]—वह भी इन तथ्यों से भ्रान्त सिद्ध हो जाती है।

१. जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूरामजी प्रेमी) पृ० ५२४-५२९

२. देखें—

(अ) जैन साहित्य का इतिहास द्वितीय भाग, (पं० कैलाश चन्द्र जी) चतुर्थ अध्याय, पृ० २९४-२९९

(ब) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश (पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार), पृ० सं० १२५-१४९

(स) तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग–२, (डॉ० नेमिचन्द जी), पृ० १६७

(द) सर्वार्थसिद्धि–भूमिका, पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, पृ० ३१-४६,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान की अवधारणा का ऐतिहासिक विकासक्रम

गुणस्थान की अवधारणा के ऐतिहासिक विकासक्रम को समझने की दृष्टि से यह तथ्य महत्वपूर्ण है, न केवल प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों में, अपितु दिगम्बर परम्परा में आगम रूप में मान्य कसाय-पाहुड सुत्त में तथा तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञ तत्त्वार्थभाष्य में गुणस्थान की अवधारणा का कहीं भी सुव्यवस्थित निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि इन तीनों ग्रंथों में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों जैसे—दर्शनमोह-उपशमक, दर्शन-मोहक्षपक, (चारित्रमोह) उपशमक, (चारित्रमोह) क्षपक, उपशान्त-मोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि के प्रयोग उपलब्ध हैं। मात्र यही नहीं ये तीनों ही ग्रंथ कर्म-विशुद्धि के आधार पर आध्यात्मिक विकास की स्थितियों का चित्रण भी करते हैं। इससे ऐसा लगता है कि इन ग्रंथों के रचनाकाल तक जैन परम्परा में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हो पाया था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि समवायांग और षट्खण्डागम में १४ गुण-स्थानों के नामों का स्पष्ट निर्देश होकर भी उन्हें गुणस्थान नाम से अभिहित नहीं किया गया है। जहाँ समवायांग सूत्र उन्हें जीवस्थान (जीवठाण) कहता है, वहीं षट्खण्डागम में उन्हें जीवसमास कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों, कसायपाहुडसुत्त, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से किंचित् परवर्ती और इन १४ अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का स्पष्ट उल्लेख करने वाली श्वेताम्बर-दिगम्बर रचनाओं से पूर्ववर्ती हैं। साथ ही ये दोनों ग्रन्थ समकालिक भी अवश्य हैं क्योंकि हम देखते हैं कि छठीं शताब्दी और उसके पश्चात् के श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों में विशेषरूप से कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में गुणस्थान शब्द का प्रयोग बहुलता से किया जाने लगा था। इससे यह भी प्रतिफलित होता है कि जैन परम्परा में लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी, चौथी शताब्दी के अन्त से लेकर पांचवीं शताब्दी के बीच यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया, किन्तु इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान या जीवसमास कहा गया है। षट्खण्डागम, समवायांग दोनों ही इसके लिए गुणस्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द का प्रयोग न कर क्रमशः जीवस्थान और जीवसमास शब्द का प्रयोग करते हैं—यह बात हम पूर्व में भी बता चुके हैं। श्वेताम्बर परम्परा में सबसे पहले गुणस्थान शब्द का प्रयोग आवश्यकचूर्णि में किया गया है, उसके पश्चात् सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति और हरिभद्र की आवश्यकनिर्युक्ति की टीका के काल तक अर्थात् ८ वीं शती के पहले उस परम्परा में इस सिद्धान्त को गुणस्थान के नाम से अभिहिर किया जाने लगा था। जैसा कि हम देख चुके हैं—दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम षट्खण्डागम, मूलाचार और भगवती आराधना (सभी लगभग पांचवीं-छठी शती) में गुणस्थानों का उल्लेख उपलब्ध होता है। कसायपाहुड में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति तो देखी जाती है परन्तु उसमें १४ गुणस्थानों की सुव्यवस्थित अवधारणा अनुपस्थित है। षट्खण्डागम में इन १४ अवस्थाओं का उल्लेख है, किन्तु इन्हें जीवसमास कहा गया। मूलाचार में इनके लिए 'गुण' नाम भी है और १४ अवस्थाओं का उल्लेख भी है। भगवती आराधना में यद्यपि एक साथ १४ गुणस्थानों का उल्लेख नहीं है किन्तु ध्यान के प्रसंग में ७वें से १४ वें गुणस्थान तक की, मूलाचार की अपेक्षा भी, विस्तृत चर्चा हुई है। उसके पश्चात् पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका में गुणस्थान (गुणट्ठाण) का विस्तृत विवरण मिलता है। इन सभी का ससन्दर्भ उल्लेख मेरे द्वारा निबन्ध के प्रारम्भ में किया जा चुका है। पूज्यपाद देवनन्दी ने तो सर्वार्थसिद्धि (सत्प्ररूपण आदि) में मार्गणाओं की चर्चा करते हुए प्रत्येक मार्गणा के सन्दर्भ में गुणस्थानों का विस्तृत विवरण दिया है।[१] आचार्य कुन्दकुन्द की यह विशेषता है कि उन्होंने नियमसार, समयसार आदि में मग्गणाठाण, गुणठाण और जीवठाण का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है।[२] इस प्रकार जो जीवठाण या जीवसमास

१. देखे—सर्वार्थसिद्धि, सं० पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ (१९५५) १-८; पृ० ३१-३३, ३४, ४६, ५५-५६, ६५-६७, ८४-८५, ८८,

२. (अ) णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंत्ता णेव कत्तीणं॥
—नियमसार गाथा ७७, प्रकाशक—पंडित अजित प्रसाद, दि सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ १९३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द क्रमशः समवायांग एवं षट्खण्डागम तक गुणस्थान के लिए प्रयुक्त होता था, वह अब जीव की विभिन्न योनियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने लगा। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में जीवस्थान (जीवठाण) का तात्पर्य जीवों के जन्म ग्रहण करने की विविध योनियों से है। इसका एक फलितार्थ यह है कि भगवती आराधना, मूलाचार तथा कुंदकुंद के काल तक जीवस्थान और गुणस्थान दोनों की अलग-अलग और स्पष्ट धारणाएं बन चुकी थीं और दोनों के विवेच्य विषय भी अलग हो गये हैं। जीवस्थान या जीवसमास का सम्बन्ध—जीव-योनियो/जीव-जातियों से और गुणस्थान का सम्बन्ध आत्मविशुद्धि/कर्मविशुद्धि से माना जाने लगा था। ज्ञातव्य है कि आचारांग आदि प्राचीन ग्रन्थों में गुण शब्द का प्रयोग कर्म/बन्धकत्व के रूप में हुआ है।

इस प्रकार यदि गुणस्थान सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से विचार करें तो मूलाचार, भगवती आराधना, सर्वार्थसिद्धि एवं कुंदकुंद के समयसार, नियमसार आदि सभी ग्रन्थ पांचवीं शती के पश्चात् के सिद्ध होते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में भी संग्रहणी से लेकर जो गुणस्थान सम्बन्धी दो गाथाएं प्रक्षिप्त की गई हैं वे भी उसमें पांचवीं-छठी शती के बाद ही कभी डाली गई होगी, क्योंकि आठवीं शती में हरिभद्र भी उन्हें संग्रहणी गाथा के रूप में ही अपनी टीका में उद्धृत करते हैं। हरिभद्र इस सम्बन्ध में स्पष्ट हैं कि ये गाथाएं निर्युक्ति की मूल गाथाएं नहीं हैं (देखें—आवश्यक निर्युक्ति टीका हरिभद्र, भाग २, पृष्ठ १०६-१०७)।

इस समस्त चर्चा से ऐसा लगता है कि लगभग पांचवीं शताब्दी के अन्त में गुणस्थान की अवधारणा सुव्यवस्थित हुई और इसी काल में गुणस्थान के कर्म प्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा, विपाक आदि से सम्बन्ध निश्चित किये गये। समवायांग में गुणस्थान की अवधारणा को 'जीवस्थान' के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—"कर्मों की

(ब) णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा॥
—समयसार, गा० ५५, प्रका० श्री म० ही० पाटनी दि० जैन पार० ट्रस्ट मारोठ (मारवाड़) १९५३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशुद्धि की मार्गणा की अपेक्षा से प्रत्युत १४ जीवस्थान प्रतिपादित किये गये हैं।" समवायांग की इस चर्चा की यदि हम तत्त्वार्थसूत्र से तुलना करते हैं तो हम पाते हैं कि उसमें भी कर्मनिर्जरा की अपेक्षा से १० अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। 'कम्मविसोहि सग्गणं' (समवायांग समवाय १४) और 'असंख्येय गुण निर्जरा (तत्त्वार्थसूत्र ९।४७) शब्द तुलनात्मक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार समवायांग में 'सुहुं सम्पराय' के पश्चात् उवसामए-वा खवए वा का प्रयोग तत्त्वार्थ के उपशमक, उपशान्त और क्षपक शब्दों को स्मृतिपटल पर उजागर कर देता है। इससे यह भी फलित है कि समवायांग के उस काल तक श्रेणी-विचार आ गया था। उपशमक, उपशान्त और क्षपक शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ कसायपाहुड में में व्यवहुत सम्यक्, मिश्र, असम्यक् एवं संयत, संयतासंयत (मिश्र) और असंयत शब्दों के प्रयोग हमें यह स्पष्ट कर देते हैं कि कसायपाहुडसुत्त और तत्त्वार्थसूत्र की कर्मविशुद्धि की अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थान सिद्धान्त को विकसित किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान सिद्धान्त के बीज

तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान सिद्धान्त के बीज उसके नवें अध्याय में मिलते हैं। नवें अध्याय में सर्वप्रथम परिषहों के सम्बन्ध में आध्यात्मिक विकास की चर्चा हुई है, उसमें बताया गया है—"बादर-सम्पराय की स्थिति में २२ परिषह सम्भव होते हैं। सूक्ष्म सम्पराय और छद्मस्थ वीतराग (क्षीणमोह) में १४ परिषह सम्भव होते हैं। जिन भगवान् में ११ परिषह सम्भव होते हैं"।[1] इस प्रकार यहाँ बादर-सम्पराय, सूक्ष्म-सम्पराय, छद्मस्थ वीतराग और जिन–इन चार अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है।

पुनः ध्यान के प्रसंग में यह बताया गया है—"अविरत, देशविरत और प्रमत्त–संयत–इन तीन अवस्थाओं में आर्त्तध्यान का सद्भाव

१. सूक्ष्मसम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥
एकादश जिने ॥ ११ ॥
बादरसम्पराये सर्वे ॥ १३ ॥
—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९, विवेचक पं सुखलाल जी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। अविरत और देशविरत में रौद्रध्यान की उपस्थिति पायी जाती है। अप्रमत्तसंयत को धर्मध्यान होता है। साथ ही यह उपशांत कषाय एवं क्षीण कषाय को भी होता है। शुक्लध्यान, उपशांत कषाय, क्षीणकषाय और केवली में सम्भव होता है।[1] इस प्रकार यहाँ अविरत, देशविरत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत, उपशान्तकषाय (उपशान्त मोह) क्षीणकषाय (क्षीण मोह) और केवली ऐसी सात अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है, पुनः कर्मनिर्जरा (कर्म विशुद्धि) के प्रसंग में सम्यक्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, (चारित्रमोह) उपशमक, उपशांत (चारित्र) मोह, (चारित्रमोह) क्षपक, क्षीणमोह और जिन ऐसी दस क्रमशः विकासमान स्थितियों का चित्रण हुआ है[2]। यदि हम अनन्त वियोजक को अप्रमत्त-संयत, दर्शनमोह क्षपक को अपूर्वकरण (निवृत्तिबादर सम्पराय) और उपशमक (चारित्र मोह-उपशमक) को अनिवृत्ति करण और क्षपक को सूक्ष्म सम्पराय मानें तो इस स्थिति में वहाँ दस गुणस्थानों के नाम प्रकारान्तर से मिल जाते हैं। यद्यपि अनन्त-वियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशांत-मोह तथा क्षपक आदि अवस्थाओं को उनके मूल भावों की दृष्टि से तो आध्यात्मिक विकास की इस अवधारणा से जोड़ा जा सकता है, किन्तु उन्हें सीधा-साधा गुणस्थान के चौखटे में संयोजित करना कठिन है। क्योंकि गुणस्थान सिद्धान्त में तो चौथे गुणस्थान में ही अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षय या क्षयोपशम हो जाता है। पुनः उपशम श्रेणी से विकास करने वाला तो सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में भी दर्शनमोह और अनन्तानुबंधी कषाय का उपशम ही करता है, क्षय नहीं। अतः अनन्तवियोजक का अर्थ अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय मानने से उपशम श्रेणी की दृष्टि

१. तदविरतदेशविरत प्रमत्तसंयतानाम् ॥३५॥ हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥३६॥ आज्ञाऽपायविपाकसंस्थान विचयाय धर्म-मप्रमत्तसंयतस्य ॥३७॥ उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥३८॥ शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३९॥ परे केवलिनः ॥४०॥
—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ९

२. सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४७॥
—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से बाधा आती है। सम्यक्-दृष्टि, श्रावक एवं विरति के पश्चात् अनन्तवियोजक का क्रम आचार्य ने किस दृष्टि से रखा, यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। तुलनात्मक दृष्टि से दर्शनमोह क्षपक को अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के साथ योजित किया जाना चाहिए। क्षपक श्रेणी से विचार करने पर यह बात किसी सीमा तक समझ में आ जाती है, क्योंकि आठवें गुणस्थान से ही क्षपक श्रेणी प्रारम्भ होती है और आठवें गुणस्थान के पूर्व दर्शनमोह का पूर्ण क्षय मानना आवश्यक है। इसी प्रकार चारित्रमोह की दृष्टि से अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर संपराय) को चारित्रमोह उपशमक कहा जा सकता है। क्षपक को सूक्ष्म संपराय से भी योजित किया जा सकता है किन्तु उमास्वाति ने उपशान्त मोह और क्षीण मोह के बीच जो क्षपक की स्थिति रखी है उसका युक्ति संगत समीकरण कर पाना कठिन है। क्योंकि ऐसी स्थिति में उपशान्त-मोह नामक ग्यारहवें और क्षीण-मोह नामक बारहवें गुणस्थान के बीच ही उसे रखा जा सकता है, किन्तु गुणस्थान सिद्धान्त में ऐसी बीच की कोई अवस्था नहीं है। सम्भवतः उमास्वाति दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों का प्रथम उपशम और फिर क्षय मानते होंगे। क्षीणमोह और जिन दोनों अवधारणाओं में समान हैं। सयोगी केवली को 'जिन' कहा जा सकता है। इस प्रकार क्वचित् मतभेदों के साथ दस अवस्थाएँ तो मिल जाती हैं किन्तु मिथ्या-दृष्टि, सास्वादन, सम्यक्-मिथ्या दृष्टि और अयोगी केवली की यहाँ कोई चर्चा नहीं है। उपशम और क्षपक श्रेणी की अलग-अलग कोई चर्चा भी यहाँ नहीं है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए तालिकायें अन्त में दी गई उपयोगी होगी—

तत्त्वार्थसूत्र में आध्यात्मिक विकास का जो क्रम है; उसकी गुणस्थान सिद्धान्त से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ गुणस्थान सिद्धान्त में आठवें गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी से आरोहण की विभिन्नता को स्वीकार करते हुए भी यह माना है कि उपशम श्रेणी वाला क्रमशः ८वें, ९वें एवं १०वें गुणस्थान से होकर ११वें गुणस्थान में जाता है—जबकि क्षपक श्रेणी वाला क्रमशः ८वें, ९वें एवं १०वें गुणस्थान से सीधा १२वें गुण स्थान में जाता है। जबकि उमास्वाति यह मानते प्रतीत होते हैं कि चाहे दर्शनमोह के उपशम और क्षय का प्रश्न हो या चारित्रमोह के उपशम या क्षय का प्रश्न हो—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले उपशम होता है और फिर क्षय होता है। दर्शन मोह के समान चारित्रमोह का भी क्रमशः उपशम, उपशान्त, क्षपण और क्षय होते हैं। उन्होंने उपशम और क्षय को मानते हुए उनकी अलग-अलग श्रेणी का विचार नहीं किया है। उमास्वाति की कर्म-विशुद्धि की दस अवस्थाओं में प्रथम पांच का सम्बन्ध दर्शन मोह के उपशम और क्षपण से है तथा अन्तिम पाँच का सम्बन्ध चारित्र मोह के उपशम, उपशान्त, क्षपण और क्षय से है। प्रथम भूमिका में सम्यक् दृष्टि उपशम से सम्यक् दर्शन प्राप्त करता है—ऐसा उपशम सम्यक् दृष्टि का क्रमशः श्रावक और विरत इन दो भूमिकाओं में के रूप में चारित्रिक विकास तो होता है किन्तु उसका सम्यक् दर्शन औपशमिक होता है अतः वह उपशान्त दर्शन मोह होता है। ऐसा साधक चौथी अवस्था में अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षपण (वियोजन) करता है अतः वह क्षपक होता है, इस पाँचवीं स्थिति के अन्त में दर्शनमोह का क्षय हो जाता है। छठीं अवस्था में चारित्र मोह का उपशम होता है अतः वह उपशमक (चारित्र-मोह) कहा जाता है। सातवीं अवस्था में चारित्र-मोह उपशान्त होता है। आठवीं में उस उपशान्त चारित्र मोह का क्षपण किया जाता है अतः वह क्षपक होता है। नवीं अवस्था में चारित्र मोह क्षीण हो जाता है, अतः क्षीणमोह कहा जाता है और दसवीं अवस्था में 'जिन' अवस्था प्राप्त होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उमास्वाति के समक्ष कर्मों के उपशम और क्षय की अवधारणा तो उपस्थित रही होगी, किन्तु चारित्रमोह की विशुद्धि के प्रसंग में उपशम श्रेणी और क्षायिक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण की अवधारणा विकसित नहीं हो पाई होगी। इसी प्रकार उपशम श्रेणी से किये गये आध्यात्मिक विकास से पुनः पतन के बीच की अवस्थाओं की कल्पना भी नहीं रही होगी।

जब हम उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से कसायपाहुड की ओर आते हैं तो दर्शनमोह की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि सम्यक्मिथ्यादृष्टि (मिश्र-मोह) और सम्यक् दृष्टि तथा चारित्रमोह की अपेक्षा से अविरत, विरताविरत और विरत की अवधारणाओं के साथ उपशम और क्षय की अवधारणाओं की उपस्थिति भी पाते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार कसायपाहुड में सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि की अवधारणा अधिक पाते हैं। इसी क्रम में आगे मिथ्या-दृष्टि, सस्वादन और अयोगी केवली की अवधारणायें जुड़ी होंगी और उपशम एवं क्षपक श्रेणी के विचार के साथ गुणस्थान का एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त सामने आया होगा।

इस तुलनात्मक विवरण से हम पाते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के समान ही कसायपाहुडसुत्त में न तो गुणस्थान शब्द ही है और न गुणस्थान सम्बन्धी १४ अवस्थाओं का सुव्यवस्थित विवरण ही है; किन्तु दोनों में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं। कसायपाहुड में गुणस्थान से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्द हैं—मिथ्यादृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि/मिश्र, अविरत/सम्यक्दृष्टि, देश-विरत/विरताविरत, संयमासंयम, विरत/संयत, उपशांतकषाय एवं क्षीण-मोह तुलना की दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्र में सम्यक्मिथ्यादृष्टि की अवधारणा अनुपस्थित है, जबकि कसायपाहुडसुत्त में इस पर विस्तृत चर्चा उप-लब्ध है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की 'अनन्तवियोजक' की अवधारणा कसायपाहुड में उपलब्ध नहीं है—उसके स्थान पर उसमें दर्शनमोह उपशमक की अवधारणा पायी जाती है। तत्त्वार्थसूत्र की उपशमक,

---

१. कसायपाहुड सुत्त सं० पं० हीरालाल जैन—वीरशासन, संघ कलकत्ता १९५५ देखें —

सम्मत्तदेसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च
दंसण-चरित्त मोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥
सम्मत्ते मिच्छत्ते य मिस्सगे चेव बोद्धव्वा ॥८२॥
विरदीय अविरदीए विरदाविरदे तहा अणगारे ॥८३॥
दंसणमोहस्स उवसामगस्स परिणामोकेरिसोभवे ॥९१॥
दंसणमोहक्खवणा पट्ठवगो कम्मभूमि जादो तु ॥११०॥
सुहुमे च सम्पराए बादररागे च बोद्धव्वा ॥१२१॥
उवसामणा खएण दु पडिवदि दो होइ सुहुम रागम्मि ॥१२२॥
खीणेसु कसाएसु य सेसराण के व होति विचारा। २३२॥
संकामनाणयोवट्टण किही खवणाए खीण मोहंते।
खवणा य आणुपुव्वी बोद्धव्वा मोहणीयस्य ॥२३३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशांत, क्षपक और क्षीणमोह की अवधारणायें स्पष्टरूप से कसाय-पाहुडसुत्त में चारित्रमोह उपशमक, उपशांत कषाय और चारित्रमोह क्षपक तथा क्षीणमोह के रूप में यथावत् पायी जाती है। यहां 'चारित्र-मोह' शब्द का स्पष्ट प्रयोग इन्हें तत्त्वार्थ की अपेक्षा अधिक स्पष्ट बना देता है। पुनः कसायपाहुडसुत्त में भी तत्त्वार्थसूत्र के समान ही प्रमत्त-संयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण,—ये चारो नाम अनुपस्थित हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा इसमें सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र = मिसग) और सूक्ष्म-सम्पराय (सुहुमराग/सुहुमसंपराय) ये दो विशेष रूप से उपलब्ध होते हैं। पुनः उपशान्तमोह और क्षीणमोह के बीच दोनों ने क्षपक (खवग) की उपस्थिति मानी है, किन्तु गुणस्थान सिद्धान्त में ऐसी कोई अवस्था नहीं है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कसायपाहुड और तत्त्वार्थसूत्र में कर्म-विशुद्धि की अवस्थाओं के प्रश्न पर बहुत अधिक समानता है—मात्र मिश्र और सूक्ष्मसम्पराय की उपस्थिति के आधार पर उसे तत्त्वार्थ की अपेक्षा किञ्चित् विकसित माना जा सकता है। दोनों की शब्दावली, क्रम और नामों की एकरूपता से यही प्रतिफलित होता है कि दोनों एक ही काल की रचनायें हैं।

मुझे लगता है कि कसायपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य के काल में आध्यात्मिक-विशुद्धि या कर्म-विशुद्धि का जो क्रम निर्धारित हो चुका था, वही आगे चलकर गुणस्थान सिद्धान्त के रूप में अस्तित्व में आया। यदि कसायपाहुड और तत्त्वार्थ चौथी शती या उसके पूर्व की रचनायें हैं तो हमें यह मानना होगा कि गुणस्थान की सुव्यवस्थित अवधारणा चौथी और पांचवीं शती के बीच ही कभी निर्मित हुई है, क्योंकि लगभग छठीं शती से सभी जैन विचारक गुणस्थान सिद्धान्त की चर्चा करते प्रतीत होते हैं, इसका एक फलितार्थ यह भी है कि जो कृतियां गुणस्थान की चर्चा करती हैं, वे सभी लगभग पांचवीं शती के पश्चात् की हैं। यह बात भिन्न है कि तत्त्वार्थसूत्र और कसायपाहुड को प्रथम-द्वितीय शताब्दी का मानकर इन ग्रन्थों का काल तीसरी-चौथी शती माना जा सकता है। किन्तु इतना निश्चित है कि षट्खण्डागम, भगवती आराधना एवं मूलाचार के कर्त्ता तथा आचार्य कुन्दकुन्द, उमा-स्वाति से परवर्ती ही हैं, पूर्ववर्ती कदापि नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषता यह है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती इन जैन चिन्तकों, माध्यमिकों एवं प्राचीन वेदान्तियों विशेषरूप से गौड़पाद के विचारों का लाभ उठाकर जैन अध्यात्म को एक नई ऊंचाई पर पहुंचाया। मात्र यही नहीं उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणा-स्थान आदि अवधारणाओं से पूर्णतया अवगत होकर भी शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा के सम्बन्ध में इन अवधारणाओं का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। यह प्रतिषेध तभी संभव था, जब उनके सामने ये अवधारणायें सुस्थिर होती।

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आध्यात्मिक विकास के इन विभिन्न वर्गों की संख्या के निर्धारण में उमास्वाति पर बौद्ध परम्परा और योग परम्परा का भी प्रभाव हो सकता है। मुझे ऐसा लगता है कि उमास्वाति ने आध्यात्मिक विशुद्धि की चतुर्विध, सप्तविध और दसविध वर्गीकरण की यह शैली सम्भवतः बौद्ध और योग परम्पराओं से ग्रहण की होगी। स्थविरवादी बौद्धों में सोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् ऐसी जिन चार अवस्थाओं का वर्णन है वे परिषह के प्रसंग में उमास्वाति की बादर-सम्पराय, सूक्ष्म-सम्पराय, छद्मस्थ-वीतराग और जिनसे तुलनीय मानी जा सकती हैं। योगवशिष्ठ में आध्यात्मिक विकास की ज्ञान की दृष्टि से जिन सात अवस्थाओं का उल्लेख है उन्हें ध्यान के सन्दर्भ में प्रतिपादित तत्त्वार्थसूत्र की सात अवस्थाओं से तुलनीय माना जा सकता है। इसी प्रकार महायान सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकास की जिन दस अवस्थाओं का चित्रण है, उन्हें निर्जरा की चर्चा के प्रसंग से उमास्वाति द्वारा प्रतिपादित दस अवस्थाओं से तुलनीय माना जा सकता है[1]। इसी प्रकार आजीविकों द्वारा प्रस्तुत आठ अवस्थाओं से भी इनकी तुलना की जा सकती है। यद्यपि इस तुलनात्मक अध्ययन के सम्बन्ध में अभी गहन चिन्तन की अपेक्षा है, इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा अगले किसी लेख में करेंगे।

---

१. विस्तृत विवरण हेतु देखें—जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग २, डॉ० सागरमल जैन, प्राकृत भारती जयपुर, पृ० ४७१-३७९ एवं पृ० ४८७-४८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक विशुद्धि का क्रम

	उमास्वाति के अनुसार			गुणस्थान सिद्धान्त के अनुसार
क्रम सं०	परिषहों के संदर्भ में	ध्यान के संदर्भ में	कर्म निर्जरा के संदर्भ में	
१	२	३	४	५
१.	—	—		मिथ्या दृष्टि
२.	—	—		सास्वादन
३.	—	—		सम्यक् मिथ्या दृष्टि
४.	—	अविरत (सम्यक् दृष्टि)	सम्यक दृष्टि (दर्शनमोह उपशमक)	सम्यक दृष्टि (अविरत दृष्टि)
५.	—	देश विरत	श्रावक	देश विरत
६.	—	प्रमत्तसंयत	विरत	सर्वविरत (प्रमत्तसंयत)
७.	—	अप्रमत्तसंयत	अनन्त वियोजक (उपशांत दर्शनमोह)	अप्रमत्त संयत
८.	बादर सम्पराय	—	दर्शनमोहक्षपक	अपूर्वकरण(निवृत्ति बाटर सम्पराय)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१	२	३	४	५
९.	—	—	उपशमक (चारित्रमोह)	अनिवृत्तिकरण
१०.	सूक्ष्म-सम्पराय	—	—	सूक्ष्मसम्पराय
११.	—	उपशांत कषाय	उपशान्त मोहक्षपक	उपशान्तमोह
१२.	छद्मस्थ वीतराग	क्षीण कषाय	क्षीण-मोह	क्षीण मोह
१३.	जिन	केवली (जिन)	जिन	सयोगी केवली
१४.	—		—	अयोगी केवली

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान की अवधारणा का क्रमिक विकास

इन तथ्यों को निम्न तुलनात्मक तालिका से समझा जा सकता है

तत्त्वार्थ एवं तत्त्वार्थभाष्य	कसायपाहुडसुत्त	समवायांग/षट्खण्डागम	श्वेताम्बर-दिगम्बर तत्त्वार्थ की टीकाएँ एवं भगवती आराधना, मूलाचार, समयसार, नियमसार आदि।
१	२	३	४
३री–४थी शती गुणस्थान, जीवसमास, जीव–स्थान आदि शब्दों का पूर्ण अभाव।	३री—४थी शती गुणस्थान, जीवस्थान, जीवसमास आदि शब्दों का अभाव, किन्तु मार्गणा शब्द पाया जाता है।	५वीं शती गुणस्थान शब्द का अभाव किन्तु जीवठाण या जीवसमास के नाम से १४ अवस्थाओं का चित्रण।	६ठीं शती या उसके पश्चात् गुणस्थान शब्द की उपस्थिति
कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं का चित्रण, मिथ्यात्व का अन्तर्भाव करने पर ११ अवस्थाओं का उल्लेख	कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से मिथ्यादृष्टि की गणना करने पर प्रकार भेद से कुल १३ अवस्थाओं का उल्लेख	१४ अवस्थाओं का उल्लेख है।	१४ अवस्थाओं का उल्लेख है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१	२	३	४
सस्वादन, सम्यक्-मिथ्या दृष्टि और अयोगी केवली दशा का पूर्ण अभाव	सस्वादन (सासादन) और अयोगी केवली अवस्था का पूर्ण अभाव, किन्तु सम्यक्मिथ्या दृष्टि की उपस्थिति	सस्वादन, सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) और अयोगी केवली आदि का उल्लेख है	उल्लेख है
अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण (निवृत्तिबादर) अनिवृत्तिकरण (अनिवृत्ति बादर)जैसे नामों का अभाव	अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण (निवृत्ति बादर) अनिवृत्तिकरण (अनिवृत्ति बादर) जैसे नामों का अभाव		
उपशम और क्षय का विचार है किन्तु ८वें गुणस्थान से उपशम और क्षायिक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण होता है ऐसा विचार नहीं है	उपशम और क्षपक का विचार है किन्तु ८वें गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण होता है। ऐसा विचार नहीं है।	अलग-अलग श्रेणी विचार उपस्थित	अलग-अलग श्रेणी विचार उपस्थित
पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं	पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं	पतन आदि का मूल पाठ में चित्रण नहीं है	पतन आदि का व्याख्या में चित्रण है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	तत्त्वार्थसूत्र	कसायपाहुड	समवायांग/षट्खण्डागम	तत्त्वार्थ की टीकाएँ
१.	मिथ्यात्व	मिच्छादिट्ठि (मिथ्यादृष्टि)	मिच्छादिट्ठि (मिथ्यादृष्टि)	मिथ्यादृष्टि
२.	—	—	सस्वादन सम्यक्दृष्टि (सासायण-सम्मादिट्ठी	सस्वादन
३.	—	सम्मा-मिच्छाइट्ठी (मिस्सगं)	सम्मा-मिच्छादिट्ठी (सम्यक्-मिथ्यादृष्टि)	सम्यक्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)
४.	सम्यक्दृष्टि	सम्माइट्ठी (सम्यक्दृष्टि) अविरदीए	अविरय सम्मादिट्ठी	सम्यक्दृष्टि
५.	श्रावक	विरदाविरदे (विरत-अविरत) देसविरयी (सागार) संजमासंजम	विरयारिए (विरत-अविरत)	
६.	विरत	विरद (संजम)	पमत्तसंजए	प्रमत्तसंयत
७.	अनन्तवियोजक	दंसणमोह उवसामगे (दर्शन मोह-उपशामक)	अपमत्तसंजए	अप्रमत्तसंयत
८.	दर्शनमोह क्षपक	दंसणमोह खवगे (दर्शन मोह-क्षपक)	निअट्टिबायरे	अपूर्वकरण
९.	(चारित्रमोह) उपशमक	चरित्तमोहस्स उपसामगे (उवसामणा)	अनिअट्टिबायरे	अनिवृत्तिकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. —	सुहुमरागो (सुहुमम्हि सम्पराये)	सुहुम संपराए	सूक्ष्मसम्पराय
११. उपशान्त (चारित्र) मोह (चारित्रमोह) क्षपक	उवसंत कसाय खवगे	उवसंत मोहे —	उपशान्त-मोह —
१२. क्षीणमोह	खीणमोह (छदुमत्थोवेदगो)	खीणमोहे	क्षीणमोह
१३. जिन	जिण केवली सव्वण्हू-सव्वदरिसी (ज्ञातव्य है कि चूर्णि में 'सजोगि-जिणो' शब्द है मूल में नहीं है)	सजोगी केवली	सयोगी केवली
१४. —	चूर्णि में योगनिरोध का उल्लेख है	—	—

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रकवेध्यक (प्रकीर्णक)

एक आलोचनात्मक परिचय

—सुरेश सिसोदिया

वर्तमान में आगमों के अंग, उपांग, छेदसूत्र, मूलसूत्र, चूलिकासूत्र तथा प्रकीर्णक विभाग किये जाते हैं। यह विभागीकरण हमें सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ १३वीं शताब्दी) में प्राप्त होता है[१]। सामान्यतया प्रकीर्णकों का अर्थ विविध विषयों पर संकलित ग्रन्थ ही किया जाता है। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि के अनुसार तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण, प्रकीर्णकों की रचना करते थे। परम्परागत मान्यता है कि प्रत्येक श्रमण, एक-एक प्रकीर्णक की रचना करता था। समवायांगसूत्र में "चोरासीइं पण्णग सहस्साइं पण्णत्ता" कहकर ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों के चौरासी हजार प्रकीर्णकों की ओर संकेत किया गया है।[२] आज यद्यपि प्रकीर्णकों की संख्या निश्चित नहीं है फिर भी आज ४५ आगमों में दस प्रकीर्णक माने जाते हैं। ये दस प्रकीर्णक निम्नलिखित हैं[३]—

(१) चतुःशरण, (२) आतुरप्रत्याख्यान, (३) भक्तपरिज्ञा, (४) संस्तारक, (५) तंदुलवैचारिक, (६) चन्द्रकवेध्यक, (७) देवेन्द्रस्तव, (८) गणिविद्या, (९) महाप्रत्याख्यान और (१०) वीरस्तव।

इन दस प्रकीर्णकों के नामों में भी भिन्नता देखी जा सकती है। कुछ ग्रन्थों में चन्द्रकवेध्यक और वीरस्तव के स्थान पर मरणसमाधि

आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
पद्मिनी मार्ग, उदयपुर (राज०)

१. विधिमार्गप्रपा—सम्पा० जिनविजय, पृष्ठ ५५

२. समवायांगसूत्र—सम्पा० मुनि मधुकर, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर; प्रथम संस्करण १९८२, ८४ वाँ समवाय, पृ० १४३।

३. पइण्णयसुताइं—सम्पा० मुनि पुण्यविजय, प्रका० श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई; भाग–१, प्रथम संस्करण १९८४, प्रस्तावना पृ० २०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और गच्छाचार को गिना गया है।[१] कहीं संस्तारक को नहीं गिनकर उसके स्थान पर गच्छाचार और मरण-समाधि को गिना गया है।[२]

नन्दी और पाक्षिक के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रकवेध्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान—ये सात प्रकीर्णक तथा कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति—ये दो प्रकीर्णक, अर्थात् वहाँ कुल नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है।[३]

यद्यपि प्रकीर्णकों की संख्या और नामों के विषय में मतभेद देखा जाता है, किन्तु यह सुनिश्चित है कि प्रकीर्णकों के सभी वर्गीकरणों में चन्द्रकवेध्यक को स्थान मिला है। इसका परिचय देना ही इस लेख का अभीष्ट है।

चन्द्रकवेध्यक प्रकीर्णक—

चन्द्रकवेध्यक १७५ गाथाओं की पद्यात्मक रचना है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में उपलब्ध होता है। उक्त दोनों ही ग्रन्थों में यह आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत के अन्तर्गत समाविष्ट है।[४]

---

१. प्राकृत साहित्य का इतिहास—जैन, जगदीश चन्द्र, प्रका० चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी; ई० सन् १९६१, पृष्ठ १२३।

२. देखें—वही पृ० १२३ टिप्पणी।

३. (क) नन्दीसूत्र—सम्पा० मुनि मधुकर, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; ई० सन् १९८२, पृ० १६१-१६२

(ख) पाक्षिकसूत्र—प्रका० देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार, पृ० ७६।

४. (क) उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं तंजहा—(१) दसवेआलिअं,··· (१५) चंदाविज्झयं,···(१९) महापच्चक्खाणं, एवमाइ।

—नन्दीसूत्र, पृ० १६१-१६२।

(ख) नमो तेसिं खमासमणाणं, ·····अंगाबहिरं उक्कालियं भगवंता। तंजहा—दसवेआलिअं (१),·· चंदाविज्झयं (१४)···महापच्चक्खाणं (२८) —पाक्षिकसूत्र, पृ० ७६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभिन्न आगमों में चन्द्रवेध्यक के भिन्न-भिन्न नाम प्राप्त होते हैं, यथा —चंदावेज्झयं, चंदगवेज्झं, चंदाविज्झयं, चंदयवेज्झं, चंदगविज्झं और चंदगविज्झयं। इन नामों के क्रमशः कई संस्कृत रूपान्तरण बनते हैं, जैसे —चन्द्रावेध्यक, चन्द्रवेध्यक, चन्द्रकवेध्य, चन्द्रकवेध्यक, चन्द्राविध्यक, चन्द्रविद्या और चन्द्रकविध्यक। सही नाम निर्धारित कर पाना यद्यपि सहज नहीं है, किन्तु स्पष्ट है कि इन सभी नामों में अर्थ की दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है। जो कुछ भिन्नता है, वह मात्र शाब्दिक भिन्नता ही है। जैन विद्या के बहुश्रुत विद्वान् पद्मभूषण पं० दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रंथ का 'चन्द्रकवेध्यक' नाम सर्वाधिक उपयुक्त है।[1]

लेखक एवं रचनाकाल

चन्द्रकवेध्यक के लेखक के सम्बन्ध में कहीं पर भी कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। प्राप्त संकेतों के आधार पर मात्र यही कहा जा सकता है कि यह पाँचवीं शताब्दी या उसके पूर्व के किसी स्थविर आचार्य की कृति है। लेखक के सन्दर्भ में किसी भी प्रकार का संकेत सूत्र उपलब्ध न हो पाने के कारण इस संबंध में कुछ भी कहना कठिन है।

चन्द्रकवेध्यक का उल्लेख नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र के अतिरिक्त नन्दीचूर्णि और निशीथचूर्णि में भी मिलता है। चूर्णियों का काल लगभग ६-७ वीं शताब्दी माना जाता है अतः चन्द्रकवेध्यक का रचनाकाल इससे पूर्व ही होना चाहिए। पुनः इस ग्रन्थ की उपलब्ध ताड़पत्रीय प्रतियाँ भी सिद्ध करती हैं कि यह प्राचीन होने के साथ-साथ बहुप्रचलित ग्रन्थ रहा है।

चन्द्रकवेध्यक के भाषायी स्वरूप पर विचार करने से ज्ञात होता है कि अन्य प्रकीर्णकों की अपेक्षा चन्द्रवेध्यक में उपलब्ध होने वाली गाथाओं का भाषायी स्वरूप अधिक प्राचीन प्रतीत होता है, किन्तु मात्र भाषायी स्वरूप के आधार पर भी इस ग्रन्थ की प्राचीनता को सिद्ध करना कठिन है।

---

१. व्यक्तिगत चर्चा के अनुसार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रकवेध्यक प्रकीर्णक की १७५ गाथाओं में से ६ गाथाएँ— उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा तथा अनुयोगद्वार आदि आगमों में, ११ गाथाएँ—आवश्यक निर्युक्ति, उत्तराध्ययन निर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति आदि में, ३४ गाथाएँ— मरणविभक्ति, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, तित्थोगाली, आराधनापताका तथा गच्छाचार आदि प्रकीर्णकों में एवं ५ गाथाएँ विशेषावश्यक भाष्य में मिलती हैं। साथ ही दिगम्बर एवं यापनीय परम्परा के मान्य ग्रन्थों— भगवती आराधना, मूलाचार, नियमसार, सुत्तपाहुड आदि में लगभग १६ गाथाएँ इस प्रकीर्णक की मिलती हैं। ये सभी ग्रन्थ पाँचवीं-छठीं शताब्दी के मध्य के हैं, इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि चन्द्रवेध्यक छठीं शताब्दी के पूर्व की रचना है।

विषय वस्तु—'चन्द्रकवेध्यक' शीर्षक से ही यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में प्रतिपादित आचार के जो नियम आदि बताए गए हैं, उनका पालन कर पाना चन्द्रकवेध (राधा-वेध) के समान ही मुश्किल है। इस ग्रन्थ में सात द्वारों (अध्यायों) में सात गुणों का वर्णन इस प्रकार है—

१. विनय गुण—

'विनय गुण' नामक प्रथम द्वार में यह वर्णन प्राप्त होता है कि किसी शिष्य की महानता उसके द्वारा अर्जित व्यापक ज्ञान पर निर्भर नहीं है वरन् उसकी विनयशीलता पर आधारित है। गुरुजनों का तिरस्कार करने वाले विनय रहित शिष्य के लिए यहाँ तक कहा गया है कि वह लोक में कीर्ति और यश प्राप्त नहीं करता है, विनय पूर्वक विद्या ग्रहण करने वाले शिष्य के विषय में कहा गया है कि वह सर्वत्र विश्वास और कीर्ति प्राप्त करता है।

विद्या और गुरु का तिरस्कार करने वाले तथा मिथ्यात्व से युक्त होकर लोकैषणा में फँसे रहने वाले व्यक्तियों को ऋषिघातक तक कहा गया है। विद्या इस लोक में ही नहीं वरन् परलोक में भी सुख प्रदान करने वाली बतलायी गयी है।

विद्या प्रदान करने वाले आचार्य और शिष्य के विषय में कहा गया है कि जैसे समस्त विद्याओं के प्रदाता गुरु कठिनाई से मिलते हैं वैसे ही चारों कषायों तथा खेद से रहित सरल चित्त वाले शिष्य भी मुश्किल से मिलते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **आचार्य गुण**—

विनय गुण के पश्चात् आचार्य गुण की चर्चा है। पृथ्वी के समान सहनशील, पर्वत की तरह अकम्पित, धर्म में स्थित, चन्द्रमा की तरह सौम्यकांति वाले, समुद्र के समान गंभीर तथा देश-काल के ज्ञाता आचार्यों की सर्वत्र प्रशंसा होती है।

संख्या में बराबर होते हुए भी इस ग्रन्थ में बताये गये आचार्य के छत्तीस गुण भगवती आराधना,[1] मूलाचार,[2] प्रवचनसारोद्धार[3] आदि ग्रन्थों में प्राप्त गुणों से भिन्न हैं।

आचार्यों की महानता के सन्दर्भ में कहा गया है कि इनकी भक्ति से जीव इस लोक में कीर्ति और यश को प्राप्त करता है और परलोक में विशुद्ध देवयोनि को प्राप्त करता है। आचार्यों के वन्दन की महत्ता का जैसा उल्लेख इस ग्रन्थ में मिलता है वैसा शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ में मिलता हो। ग्रन्थ में कहा है—इस लोक के जीव तो क्या देवलोक में स्थित देवता भी अपने आसन एवं शय्या आदि का त्यागकर अप्सरा समूह के साथ आचार्यों की वन्दना करने के लिए जाते हैं।

३. **शिष्य गुण**—

शिष्य गुण के सन्दर्भ में कहा गया है कि नाना प्रकार से परिषहों को सहन करने वाले, लाभ-हानि में समभाव से रहने वाले, अल्प इच्छा में सन्तुष्ट रहने वाले, ऋद्धि के अभिमान से रहित, दस प्रकार की सेवा-सुश्रूषा में सहज, आचार्य की प्रशंसा करने वाले तथा संघ की सेवा करने वाले एवं ऐसे ही विविध गुणों से सम्पन्न शिष्य की कुशल-जन प्रशंसा करते हैं।

---

१. भगवती आराधना (शिवार्य)—सम्पा० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्राक० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, प्रथम संस्करण ई० सन् १९७८, गाथा ४१९-४२७।

२. मूलाचार (वट्टकेर)—सम्पा० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८४, गाथा १५८-१५९।

३. प्रवचनसारोद्धार—प्रका० देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, ई० सन् १९२२, गाथा ५४१-५४९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्य किसके होते हैं ? इसके उत्तर में कहा गया है कि समस्त अहंकारों को नष्टकर जो शिष्य शिक्षित होता है, उसके बहुत से शिष्य होते हैं, किन्तु कुशिष्य के कोई भी शिष्य नहीं होते। शिक्षा किसे देनी चाहिए, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि किसी शिष्य में सैकड़ों दूसरे गुण भले ही क्यों न हों, किन्तु यदि उसमें विनय गुण नहीं है तो ऐसे पुत्र को भी वाचना न दी जाए, फिर गुण-विहीन शिष्य को तो क्या ? अर्थात् उसे तो वाचना दी ही नहीं जा सकती।

४. विनय-निग्रह गुण—

चन्द्रकवेध्यक में विनय गुण और विनय-निग्रह गुण ये दो स्वतन्त्र द्वार हैं, किन्तु विषयवस्तु पर दृष्टिपात से यह स्पष्ट नहीं होता कि विनय गुण और विनय-निग्रह गुण में क्या अन्तर है ? दोनों ही द्वारों में प्रदत्त विवरण का तात्पर्य विनम्रता या आज्ञापालन से ही है। वैसे विनय शब्द विनम्रता के साथ-साथ आचार-नियमों का भी सूचक है। विनय-निग्रह द्वार में जो गाथाएँ हैं, उनका तात्पर्य भी आचार-नियम से ही प्रतिफलित होता है। अतः कहा जा सकता है विनय-निग्रह गुण से लेखक का तात्पर्य आगमोक्त आचार-नियमों के परिपालन से ही रहा होगा।

विनय-निग्रह गुण नामक इस परिच्छेद में विनय को मोक्ष का द्वार कहा गया है और सदैव विनय का पालन करने की प्रेरणा दी गई है। सभी कर्मभूमियों में अनन्त ज्ञानी जिनेन्द्र देवों द्वारा भी सर्वप्रथम विनय गुण को प्रतिपादित किया गया है तथा इसे मोक्ष मार्ग में ले जाने वाला शाश्वत गुण कहा गया है। मनुष्यों के सम्पूर्ण सदाचार का सारतत्त्व भी विनय में ही प्रतिष्ठित होना बतलाया है। आगे यह भी कहा है कि विनय रहित तो निर्ग्रन्थ साधु भी प्रशंसित नहीं होते।

५. ज्ञान गुण—

'ज्ञान गुण' नामक पाँचवें द्वार में ज्ञान गुण के विषय में कहा गया है कि वे पुरुष धन्य हैं, जो जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट अति विस्तृत ज्ञान को समग्रतया नहीं जानते हुए भी चारित्र सम्पन्न हैं। ज्ञात दोषों का परित्याग और गुणों का परिपालन—ये ही धर्म के साधन कहे गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि इस लोक में अत्यधिक सुन्दर एवं विलक्षण होने से क्या लाभ ? क्योंकि लोक में तो लोग चन्द्रमा की तरह विद्वान् के मुख को ही देखते हैं। ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना गया है, क्योंकि ज्ञानी व्यक्ति संसार में परिभ्रमण नहीं करता है। साधक के लिए कहा गया है कि जिस एक पद द्वारा व्यक्ति वीतराग के मार्ग में प्रवृत्ति करता है, मृत्यु समय में भी उस पद को नहीं छोड़ना चाहिए।

चारित्र गुण—

चारित्र गुण नामक छठें द्वार में उन पुरुषों को प्रशंसनीय बतलाया गया है, जो गृहस्थरूपी बन्धन से पूर्णतः मुक्त होकर जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट मुनि-धर्म के आचरण हेतु प्रवृत्त होते हैं। दृढ़ धैर्य वाले मनुष्यों के विषय में कहा है कि वे दुःखों के पार चले जाते हैं। आगे यह भी कहा है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, अरति और जुगुप्सा को समाप्त कर देने वाले उद्यमी पुरुष ही परम-सुख को खोज पाते हैं। चारित्र शुद्धि के विषय में कहा गया है कि पाँच समितियों और तीन गुप्तियों में जिसकी निरन्तर मति है तथा जो राग-द्वेष नहीं करता है, उसी का चारित्र शुद्ध होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में रत्नत्रय में से सम्यग्दर्शन की प्राथमिकता को स्वीकार किया गया है। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह दर्शन को पकड़ रखे, क्योंकि चारित्र रहित व्यक्ति तो भविष्य में सम्यक् चारित्र का अनुसरण करके सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु दर्शन रहित व्यक्ति कभी भी सिद्ध नहीं हो सकते। उत्तराध्ययनसूत्र में भी सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपेक्षा सम्यक्दर्शन को ही प्राथमिकता दी गई है।[1] तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने भी अपने ग्रन्थ में दर्शन को ज्ञान और चारित्र के पहले स्थान दिया है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द दर्शनपाहुड में

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र—सम्पा० मुनि मधुकर, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर; अध्ययन २८-२९।

२. "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"—तत्त्वार्थसूत्र—विवेचक पं० फूलचन्द शास्त्री, प्रका० श्री गणेश प्रसाद वर्णी दिग० संस्थान, वाराणसी, सूत्र १।१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं कि धर्म अर्थात् साधनामार्ग दर्शन प्रधान है।[१] भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक में भी दर्शन को ही प्राथमिकता दी गई है।[२]

७. मरण गुण

'मरण गुण' नामक सातवें और अन्तिम द्वार में ग्रन्थकार समाधिमरण की उत्कृष्टता का बोध कराते हैं। वे कहते हैं कि विषयसुखों का निवारण करने वाली पुरुषार्थी आत्मा मृत्यु समय में समाधिमरण की गवेषणा करने वाली होती है। यह भी कहा गया है कि साधु कुछ समाधिमरण प्राप्त कर पाते हैं, अधिकांश का समाधिमरण नहीं होता है।

कौन व्यक्ति लक्ष्य प्राप्त कर सकता है? इस विषय में कहा गया है कि विनिश्चित बुद्धि से अपनी शिक्षा का स्मरण करने वाला व्यक्ति ही कसे हुए धनुष पर तीर चढ़ाकर चन्द्रक अर्थात् यन्त्र चालित पुतली के अक्षिका-गोलक को वेध पाता है, जो थोड़ा सा भी प्रमाद करता है वह लक्ष्य को नहीं वेध पाता। वस्तुतः चन्द्रकवेध्यक का अर्थ लक्ष्य को प्राप्त करना ही है।

समाधिमरण किसे होती है? इस विषय में कहा गया है कि सम्यक् बुद्धि को प्राप्त, अन्तिम समय में साधना में विद्यमान, पाप कर्म की आलोचना, निन्दा और गर्हा करने वाले व्यक्ति का मरण ही शुद्ध होता है अर्थात् उसका ही समाधिमरण होता है।

कषाय किसी व्यक्ति का कितना अहित कर सकते हैं, यह दर्शाते हुए कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने करोड़ पूर्व वर्ष से कुछ कम वर्ष तक चारित्र का पालन किया हो; ऐसे दीर्घ संयमी व्यक्ति के चारित्र को भी कषाय क्षणभर में नष्ट कर देते हैं।

साधुचर्या का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे साधु धन्य हैं, जो सदैव राग रहित, जिनवचनों में लीन तथा निवृत्त कषाय वाले हैं एवं आसक्ति और ममता रहित होकर अप्रतिबद्ध विहार करने वाले, निरन्तर सद्गुणों में रमण करने वाले तथा मोक्ष मार्ग में लीन रहने वाले हैं।

---

१. दर्शनपाहुड, २।

२. भत्तपइण्णा—पइण्णयसुताइं—सम्पा० मुनि पुण्यविजय, गाथा ६५-६६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धिमान् पुरुष के लिए कहा गया है कि वह गुरु के समक्ष सर्व-प्रथम अपनी आलोचना और आत्म-निंदा करे, तत्पश्चात् गुरु जो प्राय-श्चित्त दे, उसकी स्वीकृति रूप 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से गुरु को वन्दन करे और गुरु को कहे कि आपने मुझे निस्तारित किया।

आसक्ति त्याग पर बल देते हुए कहा है कि मृत्यु समय में सोना-चाँदी, दास-दासी, धन-वैभव यहाँ तक कि परिजन आदि कुछ भी मनुष्य के सहायक नहीं होते। आत्म-समाधि की अपेक्षा ये सभी तुच्छ हैं। समाधिमरण के इच्छुक व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं के प्रति किसी तरह की आसक्ति नहीं रखते हैं, वे इस हेतु अपने शरीर के मोह का भी त्याग कर देते हैं।

ग्रन्थ का समापन यह कहकर किया गया है कि विनयगुण, आचार्य गुण, शिष्य गुण, विनय-निग्रह गुण, ज्ञान गुण, चारित्र गुण और मरण गुण विधि को सुनकर उन्हें उसी प्रकार धारण करें, जिस प्रकार वे शास्त्र में प्रतिपादित हैं। इस प्रकार की साधना से गर्भवास में निवास करने वाले जीवों के जन्म-मरण, पुनर्भव, दुर्गति और संसार में गमना-गमन समाप्त हो जाते हैं।

[प्रस्तुत लेख आगम संस्थान, उदयपुर द्वारा प्रकाशित चन्द्रकवेध्यक प्रकीर्णक ग्रन्थ की भूमिका को आधार बनाकर लिखा गया है। ग्रन्थ की भूमिका लेखक ने पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी के निदेशक प्रो० सागरमल जैन के सहयोग से लिखी है, अतः लेखक उनके प्रति आभारी है]

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण एवं ब्राह्मण परम्परा में 'परमेष्ठी' पद

—साध्वी डा० सुरेखा श्री*

'पंच परमेष्ठी' जैन धर्म की आधार-शिला कही जाती है। यह 'नमस्कार मंत्र' का अपर नाम है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु—ये पंच पद परमेष्ठी रूप से ख्याति प्राप्त हैं। जैन धर्म के सभी सम्प्रदाय चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर सभी ने एक स्वर से इसकी महिमा गाई है। अनादिनिधन और शाश्वत इस मंत्र का गौरव अद्यापि अक्षुण्ण और यथावत् है। यहाँ शोध का विषय यह है कि यह नमस्कार महामंत्र परमेष्ठी पद पर कब स्थापित हुआ ? ये पंच पद परमेष्ठी संज्ञा पर कैसे अधिरूढ़ हुए ?

आगमों में नमस्कार मंत्र के स्थान पर 'पंच मंगल महाश्रुतस्कंध' ऐसा उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर आगमों में सर्वप्रथम इसका उल्लेख 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' (भगवती सूत्र), प्रज्ञापना, पश्चात् महानिशीथ में किया गया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति और प्रज्ञापना में मात्र मंगल के रूप-उल्लेख हैं। जबकि महानिशीथ सूत्र में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। भगवती सूत्र के वृत्तिकार श्रीमद् अभयदेव सूरि ने इस पर विस्तृत टीका की है। इस टीका में इसे पंचपरमेष्ठी पद से स्थान-स्थान पर सम्मानित किया है। महानिशीथ सूत्र जो कि आगमान्तर्गत ख्याति प्राप्त है, वहाँ इसे 'पंचमंगल महाश्रुतस्कंध' से सम्बोधित किया है।[१] मात्र एक ही स्थल है जहाँ परमेष्ठी शब्द प्रयुक्त है। परन्तु वहाँ इन पाँचों पदों को परमेष्ठी रूप प्राप्त नहीं होता, मात्र अर्हन्त पद के साथ ही परमेष्ठी पद प्रयुक्त किया है।[२] इससे तात्पर्य यह निकाला

*L. D. Institute of Indology, Ahmedabad

१. महानिशीथ सूत्र, अ० ३ सू० १३

२. वही अ० ३ सू० १४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा सकता है कि यह परमेष्ठी शब्द/पद तब तक रूढ़ या प्रचलित न हुआ हो ? अथवा 'महानिशीथकार' ने 'पंचमंगल महाश्रुत स्कंध' शब्द अधिक उपयुक्त समझा हो क्योंकि महानिशीथ सूत्र में उपधान विधि के अन्तर्गत इसकी चर्चा की है। अथवा यह सर्व मंगलों में प्रमुख तथा प्रथम मंगल स्वरूप होने से भी हो सकता है कि इसे पंचमंगल महाश्रुतस्कंध कहा गया हो अथवा पंचमंगलमहाश्रुत स्कंध शब्द परमेष्ठी शब्द से अधिक माहात्म्य लिए हुए हो ?

इससे पश्चाद्वर्ती ग्रंथों में ग्रन्थकारों ने परमेष्ठी पद का प्रयोग प्रचुरता से किया है। दिगम्बर श्रुत साहित्य में आचार्य कुंदकुंद रचित 'मोक्षपाहुड' में स्पष्टतया उल्लिखित है कि—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं। वे आत्मा के विषय में चेष्टा रूप हैं, आत्मा की अवस्था है, इसलिए निश्चय से मुझे आत्मा का ही शरण है[1]।

श्री कुंदकुंदाचार्य (पहली शती) ने स्पष्टतया इन पाँच पदों का परमेष्ठी रूप से विधान किया है। इसके अतिरिक्त 'स्वयंभू स्तोत्र' के टीकाकार ने इसकी व्याख्या की है, जो परम पद में स्थित है, वह परमेष्ठी है।[2] 'भाव पाहुड' तथा 'समाधि शतक' में वर्णन है, जो इंद्र, चंद्र, धरणेन्द्र के द्वारा वंदित ऐसे परम पद में स्थित है, वह परमेष्ठी होता है।[3] इस प्रकार सर्वप्रथम कुंदकुंदाचार्य के साहित्य में इसकी उपलब्धि होती है। पश्चाद्वर्ती अनेक ग्रंथों में परमेष्ठी शब्द का प्रयोग किया गया है।

जैन वाङ्मय के अतिरिक्त जैनेतर साहित्य में 'परमेष्ठी' शब्द का उपयोग किया गया है या नहीं ? उस पर भी हम दृष्टिपात करें। भारतीय वाङ्मय में प्राचीनता की अपेक्षा वेदों का महत्त्व सर्वाधिक है। वेदों में 'परमेष्ठी' पद का उल्लेख कहाँ-कहाँ किस संदर्भ में हुआ है, उसका आकलन करेंगे।

---

१. मोक्ष पाहुड, गा० १०४

२. स्व. स्तोत्र टी० ३९

३. भा०पा०टी० १४९-२९३-८; समाधि श० टी० ६·२२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिक संदर्भ में प्रयुक्त परमेष्ठी—

अध्यात्म और सृष्टि विद्या का अक्षय भंडार होने से हिन्दू संस्कृति में वेदों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। स्व-स्वरूप को पहचान कर परम-पद की स्थिति को किस प्रकार प्राप्त करके जीवन सफल बनाया जाय, यह वेदों में सुन्दर रीति से प्रतिपादित है।

अथर्ववेद के अन्तर्गत 'परमेष्ठी' पद का उल्लेख अनेकशः किया गया है। वेदों को सायणाचार्य, सातवलेकर तथा सांकलेश्वर की व्याख्याओं ने बोधगम्य और सुस्पष्ट कर दिया है। यहाँ समन्वित रूप से परमेष्ठी पद की व्याख्या का निरूपण करेंगे।

प्रथम कांड के अन्तर्गत 'धर्मप्रचार' सूक्त में परमेष्ठी पद का निर्देश है कि 'हे परमेष्ठी! (श्रेष्ठ स्थान में रहने वाले) ज्ञान को प्राप्त करने वाले अग्ने! तू तोले हुए घी आदि का भोजन कर और दुष्टों को विलाप करा।[1] यहाँ सायणाचार्य 'परमेष्ठी' की व्याख्या करते हैं—'उत्कृष्टस्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी। स्वर्गाद्युत्कृष्ट स्थान निवासिन्। तिष्ठते औणादिकः किनिप्रत्ययः।[2] सायणाचार्य का अभिप्राय है कि जो स्वर्गादिक उत्कृष्ट स्थान में स्थित है, वह परमेष्ठी है। सातवलेकर इसकी व्याख्या अन्य रीति से करते हैं—'परमे पदे स्थाता' इति परमेष्ठी। परम श्रेष्ठ अवस्था में रहने वाले, शरीर को वश में रखने वाले, ज्ञानी धर्मोपदेशक।[3]

वास्तव में यह सूक्त अग्नि सूक्त है। इस सूक्त में अग्नि पद से किसका ग्रहण करना चाहिए? इसका निश्चय कराने वाले ये शब्द इस सूक्त में हैं—जातवेदः, परमेष्ठिन्, तनूवशिन्, नृचक्षः, वन्दितः, इतः, देवः, अग्नि। इसमें परमेष्ठी पद का खुलासा करते हैं, परम पद में ठहरने वाला अर्थात् समाधि की अंतिम अवस्था को जो प्राप्त हैं, आत्मानुभव जिसने प्राप्त किया है, तुर्य—चतुर्थ अवस्था का अनुभव

---

१. आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन्। अथर्व० १-७-२

२. अथर्व० सायण भाष्य १-७-२

३. अथर्व० सात० भाष्य १-७-२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाला।[1] इस प्रकार यहाँ अग्नि के गुण-धर्म बताये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ अग्नि से तात्पर्य धर्मोपदेशक पंडित है।[2]

आचार्य सांकलेश्वर ने परमेष्ठी को 'परम श्रेष्ठ स्थान में रहने वाला अग्नि' बताया है।[3]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जो परम-पद में स्थित है, उसे परमेष्ठी कहा है। जो परम पद में स्थित होता है, स्वाभाविक है वह पूज्य, आदरणीय, वंदनीय होता ही है।

चतुर्थ कांड में परमेष्ठी पद को प्रजापति अर्थ में समाहित करते हुए कथन है —इन्द्र ही अग्नि, परमेष्ठी, प्रजापति, और विराट् है। वही सब मनुष्यों और प्राणियों में व्याप्त है, वही सर्वत्र है और वही सबको बल देता है।[4] सायणाचार्य इसका विश्लेषण करते हैं कि 'परमेष्ठी परमे सत्यलोके स्थितः प्रजापतिः विराट्'[5], अर्थात् जो परम सत्य लोक में स्थित प्रजापति विराट है, वही परमेष्ठी है। आचार्य सातवलेकर का कथन है कि 'प्रभु ही अपने रूप से अग्नि बना है। वही परमेष्ठी (परमात्मा) प्रजापति (प्रजा का पालन करने वाला ईश्वर है। सब विश्व को उठाने के कारण विराट् हुआ है। वही सब नरों में व्यापता है। वही अग्नि आदि में फैला है। वही रथ खींचने वाले प्राणियों में फैला है। वही दृढ़ करता है और वही धारण करता है।[6]

आचार्य सांकलेश्वर ने प्रजापति और परमेष्ठी से धारण करने वाला इन्द्र स्वीकार किया है।[7]

अष्टम कांड में अथर्ववेद में उल्लेख है—'देव, इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्रो, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् वैश्वानर वगैरह सभी ऋषियों ने

१. अथर्ववेद सात० भाष्य १-७-२
२. वही
३. अथर्ववेद संहिता विधि भाषा भाष्य १-७-२
४. इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् विश्वानरे अक्रमत्। अथर्व० ४-११-७
५. अथर्व सायण० भाष्य ४-११-७
६. अथर्व० सातवले० भा० ४-११-७
७. अथर्व० वि० भाषा० भा० ४-११-७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकर पुरुष के हाथ में मणि और कवच जैसा बांधा'[1]। यहाँ परमेष्ठी से तात्पर्य किसी देवता विशेष से है क्योंकि इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट्, वैश्वानर आदि देवताओं के साथ परमेष्ठी को भी देवता कहा गया है।

यहाँ कहीं-कहीं प्रजापति मात्र को परमेष्ठी कहा गया है[2] तो कहीं-कहीं पर परमेष्ठी व प्रजापति दोनों का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख किया गया है। नवम कांड में गाय के स्वरूप वर्णन में प्रजापति-परमेष्ठी स्वतन्त्र देवता कहे गये हैं।[3]

दशम कांड में परमेष्ठी को परमात्मस्वरूप मान्य किया है। इस सन्दर्भ में परमात्म स्वरूप परमेष्ठी कैसे प्राप्त किया जाय ? इसकी चर्चा करते हुए कहा है–"यह पुरुष श्रोतिय गुरु को, परमेष्ठी परम गुरु को किसकी प्रेरणा से प्राप्त करता है ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं कि ब्रह्म मन्त्र से श्रोतिय गुरु ज्ञान को और ब्रह्म से परमेष्ठी को प्राप्त करता है।[4] यहाँ ब्रह्म से तात्पर्य है ज्ञान अर्थात् ज्ञान से ही परमात्मा परमेष्ठी का ज्ञान होता है। सातवलेकराचार्य ने परमेष्ठी शब्द की व्याख्या गहन एवं सुन्दर रीति से की है, "परमेष्ठी" शब्द का अर्थ है 'परमस्थान में रहने वाला आत्मा'। परे से परे जो स्थान है, उसमें जो रहता है, वह परमेष्ठी परमात्मा है। (१) स्थूल (२) सूक्ष्म (३) कारण (४) महाकारण, इनसे वह परे है, इसलिए उसको परमेष्ठी किंवा "पर-तमे-ष्ठी" परमात्मा कहते हैं। इसका पता ज्ञान से ही चलता है। सबसे पहले अपने ज्ञान से सद्गुरु को प्राप्त करता है, तत्पश्चात् उस सद्गुरु से दिव्य ज्ञान प्राप्त करके परमेष्ठी परमात्मा को जानना

१. अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णु सविता रुद्रो अग्निः।
प्रजापति परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे। अथर्व० ८-५-१०

२. (क) यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन्।
प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः॥ अथर्व० ९-३-११
(ख) यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि।
अथर्व० १०-३-२४, ११-५-७

३. प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्।
अथर्व० ९-१२-१

४. केन श्रोत्रियमाप्नोति, केनेमं परमेष्ठिनम्। १०-२-२०
ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम्। अथर्व० १०-२-२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है।[1] परमात्मा-स्वरूप में यहाँ परमेष्ठी स्वीकार किया गया है, यह प्रतीति होती है। इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हैं कि जो पुरुष ब्रह्म को जानता है, वह परमेष्ठी को जानता है जो परमेष्ठी को जानता है वह प्रजापति को जानता है।[2] यहाँ परमेष्ठी से तात्पर्य ब्रह्म से परे परमात्मा से लिया है। ब्रह्म से उच्चावस्था परमेष्ठी परमात्मा की है। इसी सन्दर्भ में सातवलेकराचार्य का कथन है कि 'जो पुरुष में मनुष्य के अन्दर ब्रह्म को जानते हैं, वे ही परमेष्ठी परमात्मा को जानते हैं'। यहाँ व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी का भेद देखना चाहिए। व्यष्टि एक व्यक्ति है, समष्टि व्यक्ति-समूह का नाम है और परमेष्ठी स्थिर-चर विश्व सम्पूर्ण का नाम है।[3] प्रस्तुत काण्ड में मनुष्य विश्वव्यापक परमेष्ठी को किस प्रकार जान सकता है इसका उल्लेख करते हुए ब्रह्म साक्षात्कार की साधना का कथन किया गया है।

ग्यारहवें काण्ड में भी परमेष्ठी से अभिप्राय परमेश्वर परमात्मा का ही है।[4]

बारहवें काण्ड[5] में प्रजापति को परमेष्ठी कहकर सातवलेकराचार्य परमेष्ठी की व्युत्पत्ति करते हैं—'परमे-स्थि' 'परम उच्च स्थान में स्थित'।[6] परमेष्ठी पद की प्राप्ति के लिए दान देना, सत्य और तप आदि धर्म-कर्म जो किये जाते हैं, मुख्यतः परमेष्ठी पद की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं, ऐसा उल्लेख किया गया है।

---

१. अथर्व सातवलेकर भा० १०-२-२०-२१

२. (क) ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्॥ अथर्व० १०-७-१७

(ख) व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम्। अथर्व० १०-५-४२

३. अथर्व० सातवलेकर भा० १०-७-१७

४. ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
अथर्व० ११-७-७

५. इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात् परमेष्ठी समाप।
अथर्व० १२-३-४५

६. अथर्व. सातवलेकर भाष्य १२-३-४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेरहवें काण्ड में परमेष्ठी से अभिप्राय परमात्मा का एवं वाचस्पति का है[1] तो पंचदश काण्ड में परमेष्ठी को पुनः स्वतन्त्र देवता कहा गया है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं अथर्ववेद में परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म-ज्ञान, प्रजापति, ब्रह्मा, वाचस्पति आदि अर्थों में परमेष्ठी पद प्रयुक्त हुआ है। सायणाचार्य की अपेक्षा सातवलेकराचार्य ने परमेष्ठी का हार्द गूढ़तम-सुन्दर रीति से खोला है।

सामवेद में मात्र एक ही स्थल है, जहाँ पर परमेष्ठी पद का उल्लेख किया है। यहाँ परमेष्ठी प्रजापति अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।[3]

अथर्ववेद, सामवेद के अतिरिक्त यजुर्वेद में परमेष्ठी-पद का उल्लेख अनेकशः किया गया है। इसमें अधिकांश रूप से परमेष्ठी पद प्रजापति के लिए प्रयुक्त किया है।[4] प्रजापति के अतिरिक्त ब्रह्म अर्थ भी परमेष्ठी का किया गया है।[5]

---

१. (क) रोहितो द्यावापृथिवि जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान।
अथर्व० १३-१-६

(ख) यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानर; सहः पङ्क्त्या श्रितः। अथर्व० १३-३-५

(ग) वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषावर्चसा दधातु। १३-१-१७—१९

२. (क) तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्ष भूत्वानुव्यऽवर्तयन्तः। अथर्व० १५-७-२

(ख) स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् परमेष्ठी। अथर्व० १५-६-२४—२५

३. मयि वर्चो अथोयशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः।
परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु॥ सामवेद ६-३-३

४. (क) परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत् तेन स परमां काष्ठामगच्छत् तेन प्रजापतिं निरवासाययत्। यजु० तै० सं० १-६-९-२

(ख) परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धोऽअच्छेतः
शुक्ल यजु० ८-५४

(ग) विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो बस्तो···। शुक्ल यजु० १४-९

(घ) भूतान्यशाम्यन्प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासील्लोकं ताऽइन्द्रम्।
शुक्ल यजु० १४-३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त १२९ में सूक्तद्रष्टा परमेष्ठी प्रजापति को मान्य किया है। वेदों में यजुर्वेद, अथर्ववेद में परमेष्ठी पद का उल्लेख प्रचुर मात्रा में दृष्टिगत होता है। इसमें भी अथर्ववेद में तो विशाल पैमाने पर भिन्न-भिन्न अर्थ संकुल में परमेष्ठी पद का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद की शौनकीय शाखा ही उपलब्ध होने से उसका वर्णन कर दिया गया है। किन्तु पैप्पलाद अथर्ववेद तो अनुपलब्ध होने से उसका संकेत मात्र ही प्राप्त होता है।

अथर्ववेद में ब्रह्मा, प्रजापति, परमात्मा-परमेश्वर, अग्नि, धर्मोपदेशक, ज्ञानी, आदि अर्थों में परमेष्ठी पद ग्राह्य है, जबकि यजुर्वेद तथा सामवेद में प्रजापति अर्थ इष्ट है। अर्थ जो भी हो, सभी में परम-पद-प्राप्त अर्थात् जो परम पद में स्थित है, पूजनीय है, वंदनीय है, आदरणीय है, आचरणीय है, उसी पर परमेष्ठी पद की श्रद्धा केन्द्रित हुई है।

वेदों के पश्चात् हम उपनिषद्-साहित्य में परमेष्ठी पद का निरूपण करेंगे।

(ङ) परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्।
शुक्ल यजु० १५-५८

(च) परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं। शुक्ल यजु० १५-६४

(छ) परमेष्ठी प्रजापतिमब्रवीदुपत्वाऽऽऽयानीति···।
यजु० तै० सं० ५-७-५-५

(ज) स परमेष्ठीनमब्रवीदुपत्वाऽऽऽयानीति···। वही, ५-७-५-६

(झ) विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो। वही, ४-३-५

(ञ) प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्। वही, ४-३-१०-३

(ट) विश्वं ज्योतिर्यच्छ परमेष्ठी तेऽधिपतिः। वही, ४-४-६-१

(ठ) अयं मूर्धा परमेष्ठी सुवर्चाः समानानामुत्तम श्लोको अस्तु।
वही, ५-७-४-३

(ड) तं संदृक् प्रजापतिः परमेष्ठी विराजा। वही, ५-७-४-४

२. (क) परमेष्ठ्यधिपतिर्मृत्युर्गन्धर्वस्तस्य विश्वमप्सरसो भुवः।
वही, ३-४-७-२

(ख) परमेष्ठिने सौमापौष्णाः श्यामललामा स्तूपराः। वही, ५-६-१३-१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपनिषद् में प्रयुक्त परमेष्ठि पद —

इस संदर्भ में हम यहाँ उपनिषदों की चर्चा करेंगे कि उपनिषद् में इसका उल्लेख कहाँ-कहाँ किया है तथा किस अर्थ-संकुल में इसे निबद्ध किया है। वैदिक साहित्य में उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है। अध्यात्म की पराकाष्ठा की तुला पर इसे तोला गया है। वस्तुतः भारतीय तत्त्वज्ञान और धर्म सिद्धातों के मूल स्रोत का गौरव इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त है। यद्यपि उपनिषदों की संख्या बहुत है, तथापि यहाँ पर अपेक्षित उपनिषदों मात्र का कथन किया है। जहाँ-जहाँ पर 'परमेष्ठि' पद का निर्देश किया है, उस पर हम दृष्टिपात करेंगे।

प्राचीनता की दृष्टि से बृहदारण्यकोपनिषद् विशाल एवं प्राचीन है। इसमें 'परमेष्ठि' पद का निर्देश दो स्थलों पर एक समान किया है, "परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः"[1] यहाँ ब्रह्म को परमेष्ठी पद से अलंकृत करके नमस्कार किया है।

नारद परिव्राजकोपनिषद् में नारद शंका समाधान हेतु पितामह-ब्रह्मा के पास जाते हैं। पितामह ब्रह्मा समाधान करते हुए परिव्राज्य स्वरूपक्रम को नारद से कहते हैं, ऐसा उल्लेख किया गया है। यहाँ इस उपनिषद् में ब्रह्मा को परमेष्ठी-पद पर अध्यारूढ़ किया है।

---

१. अथर्व० पैपलाद :—
१७·२९·१७; ३·३१·८; ४·४·२; १०·१४·९; १२·७·१४; १७·२६·२०; १८ १६ ७-९; १·६३·२; १६·१३२·८; ५·५·७; १२·२·९; १२·७·१४; १६·६१ ६; १६·१५३·७; १२·२·९; १२·७·१४; १६·६१ ६; १६·१५३ ७; १७·८·८; १७·२८·४; ४·३०·८; १७·२१·५; ५·१४·४; १७·११ ३ १·५३·१-२; ३·२५·१३; ४·८·१३; ४·२७·२; ९·२३·१७; १०·१०·१ १०·१६·१०; १२·७·१४; १३·५·११; १३·१२·३; १६·२७·१०; १६ ४०·३ १६·१३९·१; १७·२९·१७; १७·४०·५; १८ १५ ६; २०·४१·८.

१. बृहदारण्यक उ० ४-६-३, २-६-३

२. नारद परि० उ० २-८-१
(अ) नारदेन प्रार्थित परमेष्ठी सर्वतः सर्वानवलोक्य···।
(ब) विधिवद् ब्रह्म निष्ठा परं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा यथोचितं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैवल्योपनिषद् में भी ब्रह्मा का परमेष्ठि अर्थ परक लेते हुए कथन किया है कि, 'अश्वलायन ऋषि भगवान् परमेष्ठि ब्रह्मा के पास आकर कहने लगे'[१]।

जहाँ इन उपनिषदों में परमेष्ठि संज्ञा से ब्रह्मा अर्थ लिया है, वहाँ अन्य स्थल पर विष्णु अर्थघटन भी किया है। महोपनिषद् में इस विष्णु अर्थ का उल्लेख किया गया है।[२]

ब्रह्मा—विष्णु के साथ-साथ प्रजापति को भी परमेष्ठि-संज्ञा से अभिहित किया है। अव्यक्तोपनिषद् तथा जैमिनीय उपनिषद् में परमेष्ठि-प्रजापति को कहा गया है।[३]

ब्रह्मा, विष्णु तथा प्रजापति इन तीनों को परमेष्ठि पद में घटित करने का हेतु यही हो सकता है कि ये देव-तत्त्व में अधिष्ठित हैं। देव-तत्त्व में प्रतिष्ठित होने से इनकी परम पद में स्थिति होनी भी आवश्यक है। जो परम पद में स्थित है, परमात्म स्वरूप है स्वाभाविक है कि परम-उच्चावस्था को प्राप्त, परम-पद में स्थित होगा ही।

ब्रह्मा, विष्णु, प्रजापति इन तीनों को ही परमेष्ठि-पद से सुशोभित नहीं किया वरन् व्यापक आत्म स्वरूप को भी परमेष्ठि-पद सिंहासन पर आरूढ़ किया है। परम-आत्म स्थिति का कथन बाष्कलमन्त्रोपनिषद् में किया है।

"अहमस्मि जरिता सर्वतोमुखः पर्यारणः परमेष्ठी नृचक्षा।
अहं विष्वङ्ऽहमस्मि प्रसत्वानहमेकोऽस्मि यदि दं नु किं च।[४]

---

१. ॐ अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनमुपसमेत्योवाच।
कैवल्योपनिषद्—१-१

२. परमेष्ठ्यपि निष्ठावान्हीयते हरिरप्यजः।
भावोऽप्यभावमायाति जीर्यन्ते वै दिगीश्वराः। म० उ० ३-५१

३. (क) अव्यक्तोपनिषद्—१
ततः परमेष्ठी व्यजायत ··।
(ख) जैमिनीय उपनिषद्—३-७-३-२, ३-७-३-३
तदेतद्ब्रह्म प्रजापतयेऽब्रवीत् प्रजापतिः परमेष्ठिने
प्राजापत्याय परमेष्ठी प्राजापत्यो देवाय·····।

४. बाष्कलमन्त्रोपनिषद्—२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाष्कलनमन्त्रोपनिषद् में सर्वत्र आत्म-स्थिति का कथन करते हुए आत्मा की व्यापकता का स्वरूप-निर्देश के संदर्भ में परमेष्ठि कह कर भी संबोधित किया है।

यहाँ द्रष्टव्य है कि नमस्कार-मंत्र में पंच परमेष्ठि पद है जो कि देव और गुरु-तत्त्व में समाहित है। उपनिषदों में देव तत्त्व के रूप में ब्रह्मा-विष्णु और प्रजापति को तो स्थान मिला ही है साथ ही आत्म-व्यापकता की स्थिति में भी परमेष्ठि संज्ञा दी गई है।

नमस्कार मंत्र में – अरिहन्त, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पंच-पद हैं। आत्म-परमात्म दोनों पदों में आत्म के उत्कर्ष को परम-स्थिति[1] की प्राप्ति के साथ कथन किया है। आत्मा की व्यापकता तो समान रूप से लक्षित होती ही है।

इस प्रकार हमें विदित होता है कि परमेष्ठि पद से उच्चतम स्थान-निवासी की संज्ञा जैन तथा उपनिषदों में समान रूप में प्राप्त है। यद्यपि देवत्व के स्वरूप में भिन्नता है तथापि देव स्वरूप से परमेष्ठि-पद का कथन तो किया ही गया है।

पुराण आदि साहित्य में परमेष्ठी—

पौराणिक साहित्य में विष्णु अर्थ में[1], महादेव अर्थ में[2] 'महाभारत' में उल्लेख किया गया है। 'ब्रह्मपुराण' में शालग्राम विशेष अर्थ में परमेष्ठी पद प्रयुक्त है।[3] 'पुराण संग्रह' में भी इसी के समान प्रयोग किया है।[4] 'वैश्वानर संहिता में भी इसकी पुष्टि की गई है।[5] इसके अतिरिक्त 'भागवत पुराण' में ब्रह्मा अर्थ में[6] एवं विष्णु अर्थ में[7] प्रयोग

---

१. महाभारत १३-१४९-५८

२. वही, ३-३७-५८

३. ब्रह्मपुराण

४. पुराणसंग्रह

५. वैश्वानरसंहिता

६. भागवत पुराण २-१-३०, २-२२, ३-६, २-३-६

७. वही, २-१-३०, २-२-२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मा अर्थ में इसका उल्लेख किया है।[१] अमरकोश में ब्रह्मा[२] तथा मनुस्मृति में विष्णु अर्थ में प्रयुक्त है।[३]

उपरोक्त सभी संदर्भों में परमेष्ठी पद देव अर्थ को लिए हुए है। पितामह ब्रह्मा, प्रजापति, विष्णु, महादेव, शालग्राम विशेष आदि अर्थों में परमेष्ठी शब्द का प्रयोग मिलता है। देव अर्थ के साथ गुरु अर्थ में भी परमेष्ठी शब्द का निर्देश प्राप्त होता है। 'बृहन्नीलतन्त्र' में परमेष्ठी शब्द गुरु अर्थ को लिए हुए है।[४] महाभारत में अजमीढ़-पुत्र के लिए भी परमेष्ठी पद का प्रयोग किया है।[५] मार्कण्डेय पुराण में तो जो परमस्थान में स्थित है, उसके लिए परमेष्ठी का उल्लेख है।[६] ताण्डय ब्राह्मण में भी प्रजापति का उल्लेख मिलता है।[७]

सभी संदर्भों से यही निष्कर्ष निकलता है कि सभी मजहबों में 'परमेष्ठी' पद को परम-उच्चावस्था में संप्राप्त आत्म तत्त्व के लिए स्वीकार किया है। देवतत्त्व तथा गुरुतत्त्व दोनों के लिए परमेष्ठी पद सभी ने एकमत से स्वीकार किया है। जैन तथा जैनेतर दोनों में इसे स्थान दिया गया है।

अब प्रश्न यह हमारे समक्ष उभरता है कि जैन धर्म में परमेष्ठी पद को जितनी ख्याति प्राप्त है, उतनी अन्य दर्शनों में नहीं। यहाँ तक कि जैनधर्म में पंच परमेष्ठी पद ही आराधना-साधना का केन्द्र बिंदु है। परन्तु प्रचलित आगमों में इसका उल्लेख नहीं है। तब इसका प्रचलित रूप कैसे प्रवेश कर गया। वेदों में जब कि अनेकशः इसका प्रयोग होने पर भी इस पद का प्रचलन दृष्टिगत नहीं होता। प्राचीनता की अपेक्षा से वेदों को जैन आगमों से अधिक विद्वद्गणों ने मान्य किया है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, पुराण आदि में भी इसका प्रयोग दृष्टिगत होता है। तब क्या यह मान्य किया जाय कि वेदों से यह पद आगमों में प्रयुक्त हुआ? अथवा वेदों का प्रभाव आगमों पर पड़ा?

१. शतपथ ब्राह्मण ११-१-६
२. अमरकोश १-१-१६
३. मनुस्मृति १-८०
४. बृहन्नीलतन्त्र २ पटल
५. महाभारत १-९४-३१
६. मारकण्डेय पुराण ७६-२
७. ताण्डयब्राह्मण १९-१४-३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन दोनों ही समकालीन मान्य किये गये हैं। बौद्ध त्रिपिटकों में भी इस पद का प्रयोग दृष्टिगत नहीं होता। आगम और त्रिपिटक दोनों में परमेष्ठी पद न होने से यह शंका होना स्वाभाविक है, क्या उस काल-उस समय में इसका प्रचलन नहीं था ?

जैन आगमों को ग्रन्थारूढ करने का श्रेय देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण को है। आगम ज्ञान उससे पूर्व परम्परा से मौखिक ही होता था। गुरु से अपने शिष्य को श्रुत परम्परा से प्राप्त होता था। आधुनिक विद्वान् यह मान्य करते हैं कि गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त श्रुत में कुछ स्खलना भी होने की संभावना है। अतः स्खलना भी इसमें कारण हो सकती है।

वेदों को यदि आगमों से प्राचीन माना भी जाय तब भी यह प्रश्न उभरता है कि वर्तमान आगमों में द्वादशाङ्गी ही दृष्टिगत होता है। द्वादशाङ्गी में भी बारहवाँ अंग 'दृष्टिवाद' का भी विच्छेद हो जाने से आज मात्र एकादश अंग ही उपलब्ध हैं। आगमों में द्वादशाङ्गी के अतिरिक्त चतुर्दश-पूर्व का भी समावेश होता है। चौदह पूर्व भी काल के प्रभाव से विच्छिन्न हो गये हैं। अभी चौदह पूर्व भी उपलब्ध नहीं हैं। आगमश्रुत आज अपूर्ण होने से यह भी कहा नहीं जा सकता कि यह परमेष्ठी पद वेदों से उद्धृत है या वेदों की छाप आगमों पर है।

जो भी हो आज जितना प्रचलन परमेष्ठी पद का जैन धर्म में है, उतना अन्य धर्मों में नहीं। जैनेतर साहित्य में अनेक बार उल्लेख होने पर भी वहाँ इसका प्रचलन अधिक नहीं है। 'पंच परमेष्ठी' नाम से मात्र जैन धर्म को ही इंगित किया जाता है। प्रचलन हो या न हो परमेष्ठी से तात्पर्य सर्वत्र परम पद में स्थित आत्मा का, उच्च-अवस्था प्राप्त देव-गुरु तत्त्व का ही लिया गया है। जैन धर्म में परमेष्ठी पद के अन्तर्गत पाँच पदों को स्वीकार किया है। इसकी आराधना/साधना पंच परमेष्ठी मंत्र (नमस्कार महामंत्र) द्वारा की जाती है। आगम साहित्य में मतभेद होने पर भी 'नमस्कार महामंत्र' का माहात्म्य सभी सम्प्रदायों में एकमत से स्वीकार किया है।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषिभाषित का सामाजिक दर्शन

साध्वी (डा०) प्रमोद कुमारी

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का विकास औपनिषदिक, जैन और बौद्ध परम्पराओं से ही हुआ। जैनधर्म के प्रारम्भिक चिन्तन का रूप हमें उसके आगम साहित्य में मिलता है। आगम साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थों में आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित आदि ग्रन्थ आते हैं। ऋषिभाषित जैन परम्परा में मान्य तो रहा किन्तु इसमें जैन परम्परा के साथ-साथ औपनिषदिक एवं बौद्ध परम्पराओं के ऋषियों के विचार भी संकलित होने के कारण इसके अध्ययन की उपेक्षा होती रही।

यद्यपि ऋषिभाषित में ज्ञान-मीमांसा, तत्त्वमीमांसा और नीतिशास्त्र सम्बन्धी तथ्यों का ही प्रमुखता से उल्लेख है किन्तु बीज रूप में कहीं-कहीं सामाजिक चिन्तन के भी तत्त्व पाये जाते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं तथ्यों के विश्लेषण का एक संक्षिप्त प्रयास, तन्निहित निम्नलिखित बिन्दुओं को आधार मानकर किया गया है—

(i) वर्ण व्यवस्था एवं पुरुषार्थ चतुष्टय

(ii) व्यक्ति के सुधार से समाज का सुधार

(iii) सामाजिक और वैयक्तिक जीवन का द्वैत

(iv) स्त्री-पुरुष सम्बन्ध

(v) पारिवारिक सम्बन्ध।

ऋषिभाषित और वर्ण-व्यवस्था

वैदिक साहित्य में जहाँ चार वर्णों की कल्पना परमपुरुष के चार अंगों के रूप में की गयी है; उसके विपरीत श्रमण परम्पराओं में पहले आर्य और अनार्य ऐसे ही दो प्रकार के वर्ग मिलते हैं। ऋषिभाषित में भी आर्यायण नामक उन्नीसवें अध्याय में आर्य और अनार्य की यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चर्चा उपलब्ध होती है। उसमें कहा गया है कि अनार्य विचार और अनार्य आचार तथा अनार्य मित्रों का परित्याग कर, आर्यत्व को प्राप्त करने के लिए समुपस्थित हों।[१] क्योंकि आर्यों का ज्ञान श्रेष्ठ होता है, आर्य का दर्शन श्रेष्ठ होता है और आर्य का चरित्र श्रेष्ठ होता है; इसलिए आर्यत्व का ही सेवन करना चाहिये।[२] इस प्रकार ऋषिभाषित प्रथमतः समाज को आर्य और अनार्य ऐसे दो भागों में विभाजित करता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि भारत में ऋषिभाषित के कालतक वर्णव्यवस्था की अवधारणा सुस्पष्ट हो चुकी थी। श्रमण परम्पराओं ने वर्णव्यवस्था की इस अवधारणा को स्वीकार तो किया किन्तु वे इस बात से सहमत नहीं हुईं कि यह वर्णव्यवस्था जन्मना है। उन्होंने वर्णव्यवस्था को कर्मणा ही माना और यह माना कि व्यक्ति के कर्म और आचरण के आधार पर यह वर्ण-परिवर्तन सम्भव है। जैन परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ उत्तराध्ययन, जो कि किसी समय ऋषिभाषित के साथ ही प्रश्नव्याकरण का एक अंग माना जाता था, में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि व्यक्ति कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है।[३] वर्णव्यवस्था की यह कर्मणा अवधारणा न केवल जैन और बौद्ध परम्पराओं में, अपितु भगवद्गीता में भी पायी जाती है। उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि गुण और कर्म के आधार पर ही इन चारों वर्णों को सृष्ट किया गया है।[४] ऋषिभाषित में स्पष्ट रूप से इन चारों वर्णों का उल्लेख ही नहीं है अपितु यह भी कहा गया है कि अपने वर्ण के निर्धारित कर्म का परित्याग करके अन्य वर्ण के कार्य करना उचित नहीं है। मातंग नामक ऋषि कहते हैं कि यदि क्षत्रिय और वणिक् यज्ञ-याग आदि कर्म करें और ब्राह्मण शस्त्रजीवी हों, तो यह ऐसा ही होगा जैसे विपरीत दिशाओं से आते हुए अन्ध पुरुष आपस में ही टकरा जाते हैं।[५] ब्राह्मणों के लिए स्पष्ट

१. इसिभासियाइं, १९-१
२. वही, १९-५
३. उत्तराध्ययन सूत्र, २५-३३
४. देखें, जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्राकृत भारती जयपुर भाग-२ डॉ० सागरमल जैन, पृ० १८१-८२
५. इसिभासियाइं, २६-२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप से कहा गया है कि तुम ब्राह्मण (मा हण अर्थात् हिंसा नहीं करने वाले) होकर भी युद्ध की शिक्षा क्यों ग्रहण करते हो ? रथ और धनुषधारी व्यक्ति ब्राह्मण नहीं हो सकता।[1] इससे स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि ऋषिभाषित में भी गीता के समान ही अपने-अपने वर्ण के लिए निश्चित कर्म को करने की अवधारणा का समर्थन देखा जाता है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण और स्वभाव के आधार पर निर्धारित वर्ण का कर्म करे, यह बात ऋषिभाषितकार को मान्य रही है।

इसप्रकार ऋषिभाषित कर्मणा आधार पर वर्णव्यवस्था को मान्य करते हुए भी न तो वर्णों में किसी वर्ण को श्रेष्ठ और किसी वर्ण के अधम होने का उल्लेख करता है और न इस बात का ही समर्थन करता है कि आध्यात्मिक और नैतिक विकास की यात्रा किसी एक वर्ण-विशेष का अधिकार है। उसके अनुसार आध्यात्मिक विकास का पथ सभी वर्णों के लिए समान रूप से खुला हुआ है, जो भी अपनी कषायों को क्षीण करेगा और विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति दया या कारुण्य भाव का धारक होगा वह व्यक्ति चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो वह आत्म विशुद्धि को प्राप्त करेगा और विरत-पाप होकर निर्वाण का अधिकारी बनेगा।[3] इस प्रकार ऋषिभाषित आध्यात्मिक विशुद्धि और निर्वाण को प्राप्त करने का अधिकार किसी वर्ण-विशेष के लिए सुरक्षित नहीं रखता है, अपितु यह मानता है कि जो भी व्यक्ति अध्यात्म की साधना करेगा वह निर्वाण का अधिकारी होगा। संक्षेप में ऋषिभाषित में वर्णव्यवस्था की अवधारणा मान्य है, किन्तु यह व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा ही मानी गई है। वह यह मान्य करता है कि प्रत्येक वर्ण को अपना कार्य करना चाहिए, किन्तु इससे कोई ऊँच या नीच नहीं होता है। आध्यात्मिक साधना और निर्वाण प्राप्ति का अधिकार सभी को समान रूप से उपलब्ध है, उसमें यह भी माना गया है कि व्यक्ति ब्राह्मण जन्म से नहीं, अपने नैतिक

१. इसिभाषियाइं, २६-४
२. देखें, जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पूर्वोक्त पृ० १८१-१८२
३. इसिभासियाइं, २५-१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरित्र से बनता है जो अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखता है, शील-प्रेक्षी है, सत्यप्रेक्षी है तथा जो समस्त प्राणियों के प्रति करुणाशील है और जिसकी आत्मा विशुद्ध है उसे ब्राह्मण ही कहा जाना चाहिये।[१] इसप्रकार ऋषिभाषित ब्राह्मण की व्याख्या आध्यात्मिक दृष्टि से करता है।

ऋषिभाषित और पुरुषार्थ चतुष्टय

ऋषिभाषित में हमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों ही पुरुषार्थों का उल्लेख मिलता है।[२] किन्तु श्रमण परम्परा का ग्रन्थ होने के कारण इसमें पुरुषार्थ चतुष्टय में से धर्म और मोक्ष को ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह स्पष्ट है कि उसमें अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों को महत्त्व नहीं दिया गया है। न तो वह काम के सेवन को उचित मानता है और न अर्थ के सञ्चय एवं महत्त्व को ही स्वीकार करता है। उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कामरूपी मृषामुखी कैंची, यद्यपि सामान्य दृष्टि से सुख का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है किन्तु यह शीघ्र ही व्यक्ति की सुख और शान्ति का छेदन कर देती है। जिस प्रकार मगर से युक्त सरोवर, विष-मिश्रित नारी और सामिष नदी सुख कारक प्रतीत होते हुए भी अन्ततः दुःखदायी ही होती है, उसी तरह भोगाकांक्षा और वासना की पूर्ति सुखद प्रतीत होते हुए भी मूलतः दुःखद ही होती है।[३] ऋषिभाषितकार का यह स्पष्ट निर्देश है कि कामभोगों के सेवन से चाहे बाह्य रूप से सुख मिलता हो किन्तु वे आध्यात्मिक समाधि और शान्ति का भंग ही करते हैं।

इसी प्रकार अर्थ के सम्बन्ध में भी ऋषिभाषित का दृष्टिकोण प्रशस्त नहीं है। उसमें कहा गया है कि बन्धन सोने का हो या लोहे का, वह दुःख का ही कारण होता है। बहुमूल्य वाले दण्ड से मारने पर पीड़ा तो होती ही है।[४] ऋषिभाषित के अड़तीसवें अध्ययन में

१. इसिभासियाइं २६-६
२. वही, ३६-१२
३. वही, ४५-४४,४६
४. वही, ४५-५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारिपुत्त कहते हैं कि 'अर्थादायी' अर्थात् धनलोलुप व्यक्ति को मन को आकर्षित करने वाली मीठी भाषा बोलने वाला समझो। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थलोलुप व्यक्ति बाहर स मधुर व्यवहार करता है किन्तु वह अन्तर में अहितकारक ही होता है। उसकी अर्थ ग्रहण की इस विसंगतिपूर्ण सन्तति परम्परा को देखकर धनलोलुप व्यक्ति से दूर ही रहना चाहिए।[1] इस प्रकार ऋषिभाषित में अर्थ और काम दोनों ही पुरुषार्थों के प्रति उपेक्षाभाव ही प्रदर्शित किया गया है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि इसका मूलभूत कारण भी ग्रन्थकार की संन्यासमार्गी जीवन-दृष्टि है। अर्थ और काम दोनों ही संन्यासी के लिए बाधक माने गए हैं, अतः यह स्वाभाविक ही है कि ग्रन्थकार इन दोनों पुरुषार्थों के प्रति उपेक्षाभाव प्रदर्शित करें और धर्म और मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ मानें।

व्यक्ति के सुधार से समाज सुधार

सामान्यतया ऋषिभाषित निवृत्तिमार्गी या संन्यासमार्गी परम्परा का ग्रन्थ है, अतः उसमें सांस्कृतिक और सामाजिक चिन्तन के जो सन्दर्भ उपलब्ध हैं, वे मूलतः वैराग्यवादी प्रकृति के हैं। वे मनुष्य को सांसारिक जीवन से विमुख करने के लिए ही हैं। अतः उसमें समाज-जीवन का यथार्थवादी पक्ष अनुपलब्ध है, मात्र कुछ आदर्शवादी संकेत-सूत्र प्राप्त हैं। उसमें त्याग और वैराग्य के जो उपदेश उपलब्ध हैं, उनके आधार पर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उस युग के सामाजिक जीवन में आज की ही भाँति व्यभिचार, युद्ध, संघर्ष, चोरी, व्यावसायिक-अप्रमाणिकता आदि अनेक प्रकार के दोष रहे होंगे जिनके निराकरण के लिये एवं स्वस्थ सामाजिक जीवन के निर्माण के प्रयत्न किये जा रहे थे।

जब ऋषिभाषितकार यह कहता है कि हिंसा नहीं करना चाहिये, झूठ नहीं बोलना चाहिये, चोरी नहीं करना चाहिये अथवा ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये, तो इससे हम यह फलित निकाल सकते हैं कि उस युग के सामाजिक जीवन में हिंसा, असत्य, चौर्यकर्म, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के संचय की प्रवृत्ति अवश्य उपस्थित रही

४. इसिभासियाइं ३८-२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होगी, क्योंकि तभी तो इनसे विरत होने का निर्देश दिया गया। ऋषिभाषित में अनेक स्थलों पर हिंसा, अप्रामाणिकता, चौर्यकर्म, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरत होने के सन्दर्भ हैं। किन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि ये सभी मात्र वैयक्तिक जीवन की नहीं, अपितु सामाजिक जीवन की भी बुराइयाँ हैं। इनसे न केवल व्यक्ति का चारित्रिक पतन होता है, अपितु सामाजिक शान्ति एवं सामाजिक व्यवस्था भी भंग होती है। वस्तुतः ये सामाजिक बुराइयाँ प्रत्येक युग में रही हैं। अतः ऋषिभाषित के ऋषियों ने भी अपने युग की इन सामाजिक बुराइयों के निराकरण का प्रयत्न अपने उपदेशों के माध्यम से किया और वे इन बुराइयों से मुक्त स्वस्थ-समाज की संरचना के लिए प्रयत्नशील भी रहे होंगे। ऋषिभाषित के अध्ययन से एक बात स्पष्ट है वह यह कि ऋषिभाषित के ऋषि समाज सुधार की बात न करके व्यक्ति के सुधार की बात करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे समाज-वादी न होकर व्यक्तिवादी हैं। उनकी मान्यता यही रही है कि जबतक व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास नहीं होता है, तब तक समाज को इन बुराइयों से मुक्त नहीं किया जा सकता। अतः वे व्यक्ति-सुधार के आन्दोलन के समर्थक माने जा सकते हैं। उनका सामाजिक दर्शन और चिन्तन इसी तथ्य पर आधारित रहा होगा कि व्यक्ति के सुधार से ही समाज का सुधार सम्भव है।

सामाजिक और वैयक्तिक जीवन का द्वैत

वर्तमान युग की सबसे मुख्य बुराई यह है कि व्यक्ति के जीवन में दोहरापन है और वह अपने इस दोहरेपन के कारण सामाजिक जीवन में भी वह दोहरे मानदण्डों का प्रयोग करता है। उसमें अपने दोषों को छिपाने और दूसरे के दोषों को प्रकट करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ऋषिभाषित के 'अंगिरस' नामक ऋषि इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। ऋषिभाषित के चतुर्थ अंगिरस अध्याय से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उस युग में भी मनुष्य दोहरा जीवन जीते थे और उनके जीवन में एकरूपता नहीं थी। जीवन का यह दोहरापन सामाजिक क्षेत्र में सबसे प्रमुख बुराई कही जा सकती है, क्योंकि इसके कारण एक ओर पारस्परिक व्यवहार में दोहरे मानदण्ड खड़े होते हैं, वही कथन और व्यवहार में एकरूपता न होने के कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परस्पर सन्देह और अविश्वास जन्म लेते हैं, जिससे समाज की शान्ति भंग हो जाती है, क्योंकि समाज पारस्परिक विश्वास और नैतिक मानदण्डों की एकरूपता पर ही खड़ा होता है। ऋषिभाषित में इस स्थिति पर व्यंग्य करते हुए यह कहा गया है कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनका सभा में दूसरा रूप होता है और एकान्त में कुछ दूसरा रूप होता है अर्थात् वे करते कुछ हैं और कहते कुछ हैं।[1] अंगिरस ऐसे व्यक्तियों के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि वे धर्म के लिए सदा अनुपस्थित रहते हैं[2], अर्थात् वे समाज व्यवस्था के लिए एक अभिशाप ही सिद्ध होते हैं। इसी प्रसंग में अंगिरस ने सामाजिक जीवन में प्रचलित बिना विचारे अनुकरण करने की प्रवृत्ति या भेड़ चाल की भी निन्दा की है। वे कहते हैं कि दुनिया वाले कल्याणकारी को पापकारी और पापकारी को सदाचारी बतलाते हैं।[3] उन्होंने अन्धानुकरण की इस प्रवृत्ति को भी सामाजिक जीवन के लिए एक अभिशाप ही माना था, क्योंकि इसके कारण समाज में सम्यक् गुणों के प्रति सन्निष्ठा की स्थापना सम्भव नहीं थी।

ऋषिभाषित और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध

ऋषिभाषित के सामाजिक चिन्तन में स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर भी चर्चा हुई है। यह सत्य है कि ऋषिभाषित के कुछ ऋषि ऐसे हैं, जो नारी की अपेक्षा पुरुष की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं। ऋषिभाषित के बाईसवें अध्ययन में गर्दभाली नामक ऋषि स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि धर्म पुरुष-प्रधान है। वे कहते हैं कि 'धर्म पुरुष से स्थापित होता है, वह पुरुष-प्रधान, पुरुष-ज्येष्ठ, पुरुष-कल्पित, पुरुष प्रद्योतित, पुरुष-समन्वित और पुरुष को केन्द्रित करके रहता है।[4] इस प्रकार यहाँ धार्मिक जीवन में भी पुरुष को प्रधानता दी गई है। इसी अध्याय में नारी

१. इसिभासियाइं, ४-८

२. वही, ४-९

३. वही ४-१३

४. पुरिसादीया धम्मा पुरिसपवरा पुरिसजेट्ठा।
पुरिसकप्पिया पुरिसपज्जोविता ··· ··· ।
वही, २२—गद्य भाग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निन्दा भी विशेष रूप से देखी जाती है, इसमें कहा गया है कि वे ग्राम और नगर धिक्कार के योग्य हैं, जहां पर महिला शासन करती है और वे पुरुष भी धिक्कार के योग्य हैं, जो नारी के वशीभूत हैं।[1] नारी निन्दा करते हुए उसमें कहा गया है कि वह सर्पवेष्ठित लता के समान है, जो पुरुष को आकर्षित करके, उसे दुःखी बना देती है। उसे सिंहयुक्त स्वर्ण गुफा, पुरुषों की विषयुक्त माला, विष-मिश्रित गन्ध-गुटिका तथा भँवरयुक्त नदी कहा गया है। वह मदोन्मत्त बना देने वाली मदिरा के समान है। वह कुल का नाश करने वाली, निर्धन का तिरस्कार करने वाली, सर्वदुःखों का प्रतिष्ठा स्थान और आर्यत्व का नाश करने वाली है।"[2] जिस ग्राम और नगर में स्त्रियाँ बलवान होकर बेलगाम घोड़े की तरह स्वच्छन्द होती हैं, वे ग्राम और नगर वस्तुतः तिरस्कार के योग्य हैं।[3]

इस समस्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि ऋषिभाषित के गर्दभाली ऋषि स्पष्ट रूप से नारी को हेय दृष्टि से देखते हैं। किन्तु इस आधार पर यह कल्पना कर लेना कि श्रमण परम्परा मात्र नारी निन्दक है, उचित नहीं होगा। यह सही है कि श्रमण परम्परा के और विशेष रूप से जैन परम्परा के अनेक ग्रन्थों जैसे—सूत्रकृतांग, तंदुलवैचारिक आदि ग्रंथों में भी अनेक पृष्ठ नारी निन्दा से भरे हुए हैं किन्तु इस आधार पर उन ग्रन्थों अथवा उनसे जुड़ी हुई परम्परा को नारी निन्दक मान लेना भ्रान्तिजनक ही होगा। यहाँ किसी भी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व हमें श्रमण परम्परा की जीवन दृष्टि को समझना होगा। यह स्पष्ट है कि श्रमण परम्परा वैराग्य-प्रधान है उसमें जो नारी निन्दा के चित्र मिलते हैं, उनका प्रयोजन नारी के व्यक्तित्व को गिराना नहीं है, अपितु पुरुष को नारी के प्रति आकर्षित होकर वासना में लिप्त होने से बचाना है। वस्तुतः नारी-निन्दा के ये समस्त चित्रण पुरुष को नारी से विमुख करने के लिए या उसमें वैराग्य भाव जागृत करने के लिए ही हैं, क्योंकि यदि उसके सम्मुख नारी जीवन

---

१. इसिभासियाइं, २२-१
२. वही, २२-२,६
३. वही. २२-७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विकृत पक्ष को उभारा नहीं जायेगा तो उसकी नारी के प्रति आसक्ति नहीं टूटेगी। यहाँ निन्दा, निन्दा के लिए नहीं किन्तु वैराग्य के लिए है। श्रमण परम्परा में नारी को समुचित गौरव प्रदान करने का ही प्रयत्न किया गया है। यही एक ऐसी परम्परा है जो नारी को पुरुष से स्वतन्त्र होकर जीवन जीना सिखाती है और स्पष्ट रूप से यह उद्घोषित करती है कि नारी भी आध्यात्मिक विकास की दिशा में आगे बढ़ सकती है। यही एक ऐसी परम्परा है, जिसमें नारी पुरुष को प्रबोधित कर उसे सन्मार्ग पर लाती है। जैन श्रमण परम्परा में ब्राह्मी, सुन्दरी, राजीमति आदि ऐसी अनेक नारियों के उल्लेख हैं जो पुरुषों को प्रतिबोधित करके सन्मार्ग की दिशा में ले गईं।[१] अतः ऋषिभाषित में नारी निन्दा के कुछ चित्रणों को देखकर यह नहीं माना जा सकता कि वह नारी को कोई महत्त्व और मूल्य ही नहीं देता है।

ऋषिभाषित और पारिवारिक सम्बन्ध :—

ऋषिभाषित में भाई-बहन, पिता-पुत्र, पिता-पुत्री, पति-पत्नी, माँ-पुत्र, माँ-पुत्री आदि का उल्लेख मिलता है। ऋषिभाषित इन विविध प्रकार के पारिवारिक सम्बन्धों का निर्देश करता है। उसकी दृष्टि में ये सभी पारिवारिक सम्बन्ध व्यक्ति के लिए दुःख के कारण माने गए हैं।[२] इन पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति रागभाव व्यक्ति को बन्धन में बाँधता है और उनके प्रति घटित होने वाले दुःख-संकट, व्यक्ति के अपने दुःख-संकट बन जाते हैं। ऋषिभाषित के 'महाकाश्यप' नामक अध्याय में भी कहा गया है कि भाई के मरण से, भगिनि के मरण से, पुत्र के मरण से, पुत्री के मरण से, भार्या के मरण से, अथवा अन्य स्वजन मित्र, बन्धु-बान्धवों के मरण से, उनकी दरिद्रता से, उनके भोजनाभाव से व्यक्ति दुःखग्रस्त होता है, वह उनके वियोग, अपमान, निन्दा, पराजय आदि दुःखों से स्वयं भी दुखित होता है।[३] इस प्रकार ऋषिभाषित के लेखक की दृष्टि में व्यक्ति एक ओर पारिवारिक सम्बन्धों के कारण परिवार एवं समाज से बँधा हुआ है, तो दूसरी

१. देखें, जैन धर्म में नारी की भूमिका, डॉ० सागरमल जैन, पृ० श्रमण
२. इसिभासियाइं, ७-गद्य भाग
३. वही १-गद्य भाग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर ये सभी पारिवारिक सम्बन्ध व्यक्ति के दुःख और पीड़ा के कारण भी हैं।

ऋषिभाषित में हमें पारिवारिक जीवन के प्रति पारस्परिक दायित्वों की कोई चर्चा नहीं मिलती है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि पारिवारिक सम्बन्धों और दायित्वों की विस्तृत चर्चा न होने का कारण, मूलतः उसका संन्यास प्रधान या वैराग्य प्रधान दृष्टिकोण ही है क्योंकि निवृत्तिमार्गी परम्परा ने सदैव ही पारिवारिक जीवन को आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में एक बाधा ही माना था। उसमें पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति विश्वसनीयता का भाव परिलक्षित न होकर अविश्वसनीयता का ही भाव दृष्टिगोचर होता है। इस सन्दर्भ में ऋषिभाषित के तेतलीपुत्र नामक अध्ययन का निम्न सन्दर्भ द्रष्टव्य है। वे कहते हैं कि श्रमण ब्राह्मण कहते हैं कि श्रद्धा (विश्वास) करना चाहिये किन्तु मैं कहता हूँ कि श्रद्धा (विश्वास) नहीं करना चाहिये। 'मैं' सपरिजन होकर भी अपरिजन हूँ, मेरे इन वचनों पर कौन विश्वास करेगा ? मैं पुत्र सहित होकर भी पुत्ररहित हूँ, मेरे इस कथन को कौन मानेगा ? मैं समित्र होकर भी मित्र रहित हूँ, इस बात पर कौन विश्वास करेगा ? कौन इस बात पर विश्वास करेगा कि मुझे अपने स्वजन और परिजनों से विराग हो गया है ? कौन इस बात पर विश्वास करेगा कि जाति, कुल, रूप, विनय आदि से युक्त मेरी पत्नी मुझसे विमुख हो गई है।[1] तेतलीपुत्र के उपर्युक्त वचन स्पष्ट रूप से इस बात के सूचक हैं कि निर्वाण मार्ग के अभिलाषी के लिए ये समस्त पारिवारिक दायित्व निरर्थक बन जाते हैं। एक अनासक्त वीतराग पुरुष इन समग्र सम्बन्धों से ऊपर उठ जाता है। तेतलीपुत्र की दृष्टि में ये समस्त पारिवारिक सम्बन्ध विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि ये सभी स्वार्थों पर आधारित होते हैं। जहाँ स्वार्थों की पूर्ति नहीं होती, या हितों की टकराहट होती है वहाँ ये समस्त सम्बन्ध टूटते हुए प्रतीत होते हैं। वैराग्यवादी जीवन दृष्टि के लिए पारिवारिक सम्बन्ध यथार्थ नहीं हैं, अपितु वे आरोपित हैं और जो आरोपित हैं वे विश्वसनीय नहीं हैं।

---

१. इसिभासियाइं, १०—गद्यभाग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषिभाषित की पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों के प्रति निषेधात्मक जीवन दृष्टि आलोचना का विषय हो सकती है। यह कहा जा सकता है कि ऋषिभाषित पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों की अवहेलना करता है। निश्चय ही हम इस तथ्य से सहमत हैं कि उसमें पारिवारिक सम्बन्धों और दायित्वों की उपेक्षा हुई है, किन्तु उसका मूल कारण उसकी वैराग्यवादी जीवन दृष्टि है। वैराग्यवाद ऋषिभाषित के सभी ऋषियों का एक सामान्य जीवन दर्शन है। यह एक अलग प्रश्न है कि यह वैराग्यवाद उचित है या अनुचित है। यदि ऋषिभाषित संन्यासमार्गी जीवनदृष्टि को लेकर चल रहा है तो उसमें पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों की यह उपेक्षा स्वाभाविक ही है।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यावरण एवं अहिंसा

डा० डी० आर० भण्डारी*

भारतीय ऋषियों, मनीषियों एवं चिंतकों ने 'जीवन' को सर्वोच्च सम्मान दिया है। उनके अनुसार जीवन प्रत्येक रूप में आराध्य है। उन्होंने प्राकृतिक परिवेश को पूज्य बना कर इसकी न केवल महत्ता को स्वीकार किया है अपितु उसे उच्च स्थान भी दिया है। जैन दर्शन तो अग्नि, वायु, पृथ्वी इत्यादि को भी सजीव मानता है। जीवन किसी भी रूप में क्यों न हो वह आदरणीय है, स्तुत्य है। भारतीय दर्शन में 'जीवन' की गरिमा और उत्थान के मूल में अहिंसा का ही तत्त्व है। भगवान महावीर तथा अन्य तीर्थंकरों ने जैन दर्शन के प्रमुख तत्त्व के रूप में अहिंसा को ही निरूपित किया है। आचारांग सूत्र में अहिंसा, सत्य और अदत्तादान का उल्लेख मिलता है। पंच महाव्रतों में अहिंसा प्रथम व्रत है। पतंजलि ने योगसूत्र में प्रथम स्थान अहिंसा का ही माना है। बौद्धधर्म में भी अहिंसा प्रथम है।

मानव एक प्राणी है और अन्य प्राणियों की भाँति वह भी इस भू-मण्डल पर विकसित हुआ है। विज्ञान ने प्रमाण एवं तर्कों के आधार पर यह सिद्ध कर दिखाया है कि मानव की यात्रा जीवन के उन्नयन की यात्रा है। विज्ञान का यह तथ्य अधूरा है क्योंकि यह जो हाड़-मांस का पुतला है वह निश्चय ही आज भी प्राणी ही है, हाँ एक उन्नत प्राणी है, परन्तु इसके भीतर जो व्यक्तित्व छिपा है वह मात्र प्राणी नहीं है। यही व्यक्तित्व उसे अन्य प्राणियों से भिन्न करता है। मनुष्य का व्यक्तित्व मात्र उन्नत मस्तिष्क नहीं है बल्कि उसके जीवन में अनुप्राणित वह दर्शन है जो उसे शरीर रूपी प्राणी से ऊपर उठाता है। हाड़-मांस के दृष्टिकोण से तो वह क्षीण हुआ है, दुर्बल हुआ है, तथा उसकी संवेदनशीलता और सामर्थ्य भी कम हुई है। हमने जो साधन विकसित किए हैं वे भी हमारे विस्तार की ही एक कड़ी है

* विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और इसी विकास की पराकाष्ठा में अहिंसा मानव जीवन का अंग बन सकी है।

अहिंसा मूलतः निषेधात्मक शब्द है। इसे स्पष्ट करना भी आवश्यक है। मानव सबसे पहले हिंसा से परिचित हुआ, हिंसा उसके जीवन की पद्धति थी। फिर उसके भीतर विवेक और ज्ञान स्फुरित हुआ और वह जान पाया कि प्राणी के स्तर से ऊपर उठा जा सकता है। उसने जीवन के ऊर्ध्वारोहण का पहला पाठ सीखा। उसने सीखा कि हिंसा जीवन की पद्धति नहीं है, हिंसा अनिवार्य नहीं है। सृजन एवं विकास हिंसा से सम्भव नहीं हैं। यह बोध उसे प्राणी से मानव में रूपान्तरित करता गया। सहिष्णुता, समभाव, सहयोग, त्याग, आदि सभी तत्त्व जो मानव को समाज का रूप देते हैं उन सब का मूल आधार अहिंसा है। मानव के लिए अहिंसा को अंगीकार करना स्वाभाविक था। जैन दर्शन के परम मूल्यों में अहिंसा श्रेष्ठ है। यह मानवीय कर्मों के मूल्यांकन का तत्त्व है और इसीलिये यह 'मानवता' का आधारभूत तत्त्व है। लेकिन अभी भी मानव के भीतर का पशु पूर्णतया रूपान्तरित नहीं हो पाया है। केवल हिंसा का स्वरूप बदला है तथा हिंसा के लिए नित नए साधन विकसित किए गये हैं। प्रकृति के दोहन से लेकर स्वयं मनुष्य के शोषण की विधियों और साधनों का विकास यह दर्शाता है कि अहिंसा के तत्त्व को पूर्णतः अंगीकार करने के लिए अथक प्रयास आवश्यक है। वैज्ञानिक प्रगति एवं संसाधनों के विकास ने मानव को सर्वभक्षी बना दिया है। मानव ही एक मात्र ऐसा प्राणी है जो मानव की ही व्यापक हिंसा करने की तैयारी कर रहा है और सम्पूर्ण मानवता उसके दुष्परिणाम भोग रही है। वैज्ञानिकता के आवरण में स्वयं मानव ने मानवीय मूल्यों को गौण कर दिया है।

हिंसा के रूप दिन-ब-दिन व्यापक एवं सूक्ष्म होते जा रहे हैं। प्राणी हिंसा की जगह कर्म-हिंसा के नए रूप विकसित हुए हैं। मानव ने ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न की है जिनके परिणाम हिंसक होते जा रहे हैं। आजकापर्यावरण, समाज तथा राजनीति इसके उदाहरण हैं। प्रकृति के निर्लज्ज दोहन और प्राणीमात्र के शोषण ने न केवल मानव का जीवन त्रस्त कर दिया है, वरन् मानव उत्पादों और कार्यों से दूसरे जीवों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन भी संकटमय हो गया है। अब पंछी नीड़ नहीं बनाते कलरव मूक हो गया है और अधिकांश जंगल समाप्त हो गए हैं। अन्धाधुन्ध औद्योगिक प्रगति और आर्थिक साम्राज्यवादिता के जो नवीन मूल्य स्थापित हुए हैं वहाँ अहिंसा के मूल्य का कोई स्थान नहीं है। आज किसी भी देश के लिए यह गर्व की बात मानी जाती है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मांस का अधिक से अधिक कितना उत्पादन करता है। यह पौष्टिक भोजन के नाम पर की जाने वाली हिंसा का ही रूप है। तथाकथित सभ्य समाजों ने प्रकृति को आज जिस रूप में पहुँचा दिया है वह स्थिति चिन्ताजनक है। १८३० में जहाँ पृथ्वी की कुल जनसंख्या एक अरब थी वहाँ १९८६ में छः अरब हो गयी है और सन् २००० तक यह सात अरब की सीमा को पार कर जायेगी। जनसंख्या के इस विस्फोट ने पृथ्वी के अन्य प्राणियों, वनस्पतियों तथा सम्पूर्ण पर्यावरण को संकट में डाल दिया है।

औद्योगिक क्रांति की होड़ ने मानव शक्ति के प्रयोग और संसाधनों के विकास के लिए प्रकृति के दोहन का जो कुचक्र आरंभ किया उससे सम्पूर्ण पर्यावरण प्रभावित हुआ है। आज मानव अपने सुख एवं स्वार्थ के प्रति इतना समर्पित है कि अहिंसा को मानवता का धर्म स्वीकारने से कतराता है। भौतिक सुखों का स्वाद उसे लग चुका है तथा वह उस स्वाद को छोड़ना नहीं चाहता। पर्यावरण का संकट विश्वव्यापी है। International union for the Conservation of Nature के अनुसार २५,००० वनस्पति प्रजातियों के लुप्त होने की संभावना है। १००० से ऊपर पक्षी एवं अन्य प्राणियों की प्रजातियाँ पिछले १०० वर्षों में विलुप्त हो चुकी है। मनुष्य ही मुख्यतः इसका उत्तरदायी है। उसने वनस्पति एवं प्राणियों के जीवन अवसर को ही कम नहीं किया है बल्कि अपने सुख, सनक एवं हिंसक आनन्द के लिए निरीह प्राणियों का वध किया है तथा जंगलों की निर्मम कटाई की है।

वस्तुतः प्रकृति के प्रति मानव की सोच ही गलत है। वह प्रकृति को दासी या भोग्या मानकर चला है, फलस्वरूप वह प्रकृति पर अत्याचार करने लगा है एवं स्वयं उसकी जीवन पद्धति भी अधिकतम भोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के सिद्धान्त पर आ टिकी है। इस गलत दर्शन ने उसके जीवन की सामान्य मर्यादाओं को भी नकार दिया है। वह भूल गया है कि प्रकृति माँ है, जीवन दात्री है। आने वाले मानव की भी उसे चिंता नहीं है। कल काटे गए जंगलों से आज जल की विकट समस्या उत्पन्न हो गई है। कल फैलाया गया प्रदूषण आज घातक विष बन कर व्याप्त हो रहा है। वैज्ञानिकों ने पर्यावरण को मुख्यतया भू-मण्डल, जन-मण्डल, वायु-मण्डल एवं जीव-मण्डल इन चार भागों में बांटा है। आज ये सभी दूषित हो गए हैं। इनको प्रदूषित करने का उत्तरदायित्व मानव का ही है। वैज्ञानिक खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानव ही एक मात्र ऐसा प्राणी है जो सबसे ज्यादा प्रदूषण करता है तथापि वह अपने द्वारा किये गये प्रदूषण की जिम्मेदारी को स्वीकार नहीं करता है। वैज्ञानिक सदैव यह कर अपने उत्तरदायित्व से मुक्ति पा लेते हैं कि वे केवल साधनों की खोज करते हैं एवं उन्हें विकसित करते हैं, उपयोग का विवेक वे नहीं देते। उपयोग करने वाले व्यक्ति को यह निर्णय स्वयं करना है कि वह इसका किस प्रकार से उपयोग करे। परन्तु वे ऐसा कह कर अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते।

वैज्ञानिक परीक्षणों के लिए न केवल जल, थल और वायुमण्डल ही दूषित किया जाता है बल्कि कितने ही निरीह प्राणियों को प्रतिवर्ष यातना दी जाती है और उनके प्राण हर लिये जाते हैं। विज्ञान इनको उचित एवं आवश्यक बतलाता है। समुद्र में परमाणु परीक्षणों से होने वाले प्रदूषण से जलीय वनस्पति एवं जलीय जीवों की अपार हिंसा होती है। रासायनिक एवं जैव रासायनिक हथियारों के निर्माण एवं परीक्षण के लिए कितने ही प्राणियों की बलि दी जाती है। वैज्ञानिक शोध एवं परीक्षणों की संख्या तथा उनसे प्राप्त परिणामों की परस्पर तुलना की जाय तो कुल प्राप्ति नगण्य के बराबर ही है। अर्थात् हिंसा की तुलना में मिलने वाला लाभ कुछ एक क्षेत्रों को छोड़ कर विशेष नहीं हैं। यांत्रिक संस्कृति के विस्तार ने पर्यावरण एवं अन्य घटकों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। जिस कार्बनिक एवं अकार्बनिक कूड़े को मानव निसृत कर रहा है, उसमें से कितने ही पदार्थ कई वर्षों तक पुनः विसर्जित नहीं होते एवं कितने ही विभिन्न रासायनिक एवं जैवरासायनिक विषों का निर्माण करते हैं। मानव घातक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषों के रूप में जिन पदार्थों का उपयोग करता है उनमें से लगभग सभी हानिकारक हैं ; समस्या का एक और पहलू मादक पदार्थों के उत्पादन और सेवन का है जो अत्यन्त घातक है। यह सामाजिक एवं मानसिक दूषण का परिचायक है।

प्राकृतिक संतुलन को बनाए रखना आज अति अनिवार्य हो गया है। अम्ल की वर्षा, वायु एवं जल-प्रदूषण, ध्वनि-प्रदूषण आदि आज सामान्य हो गए हैं। आज रेडियोधर्मिता, स्टोन केन्सर तथा एसिड शाक जैसी विनाशकारी घटनाएं बढ़ने लगी हैं। मानव का धर्म है कि वह आने वाली पीढ़ी को स्वास्थ्य एवं संतुलित पर्यावरण दे। आने वाली पीढी के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिए अभी से प्रयास आरंभ करने होंगे। महात्मा गाँधी ने कहा है कि आने वाली पीढ़ियों की चिंता न करना भी हिंसा ही है। वस्तुतः अहिंसा सर्वोच्च मानवीय मूल्यों में से एक है और मानवीय कर्मों को अहिंसक होना ही चाहिये। वस्तुतः मानवीय ज्ञान औरशक्ति को जीवन एवं प्रकृति को संरक्षित रखने एवं विकसित करने में सहायक होना चाहिए न कि शोषण एवं हिंसा के लिए प्रयुक्त होना चाहिये।

आधुनिक युग में हिंसा के नये आयाम उभर रहे हैं। राजनैतिक हिंसा का ज्वार निरंतर बढ़ता जा रहा है। जितना अपव्यय शस्त्रों के निर्माण और युद्ध की विभीषिकाओं को जन्म देने में हुआ है यदि उतना ही व्यय मानव एवं प्रकृति के ऊपर किया जाता तो यह धरती स्वर्ग हो जाती। महाकवि दिनकर ने ठीक ही लिखा है 'जब काल मनुज पर छाता है, पहले विवेक मर जाता है,' हिंसक होते ही मानव का विवेक लुप्त हो जाता है अर्थात् विबेक और हिंसा साथ-साथ नहीं रह सकते हैं। विवेक अहिंसा को जन्म देता है और हिंसा प्रतिहिंसा को। आर्थिक क्षेत्रों में हिंसात्मक प्रयासों से धनोपार्जन में वृद्धि हुई है। सौन्दर्य प्रसाधनों, चमड़े की वस्तुओं, तैयार भोजन के नए-नए हिंसक मार्ग अपनाए जा रहे हैं। मानव के लिए यह लज्जा की बात है कि वह अपने सुख और झूठी शान के लिए कितने ही प्राणियों की हत्या करता है। यदि वह कहता कि भोजन की पूर्ति के लिए हिंसा आवश्यक है तो इसका कारण भी स्वयं मानव ही है। क्योंकि जब हमारे पास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याप्त भोजन नही था तब हमें सयंम को अपनाना चाहिये था एवं जनसंख्या को सीमित रखना चाहिये था। साथ ही प्रकृति के दोहन को व्यावसायिक नहीं बनाना चाहिए था। लेकिन मनुष्य की अदूरदर्शिता के कारण ही आज भोजन तथा वनस्पति की कमी अनुभव की जा रही है।

मानव में प्रदूषण फैलाने की तथा हिंसा करने की व्यापक क्षमता है। उसने ऐसे साधन विकसित किये हैं जिससे अधिकतम हिंसा संभव होती है तथा अधिकतम पर्यावरण प्रभावित होता है। विज्ञान के अनुचित प्रयोग तथा प्रकृति पर स्वामित्व स्थापित करने के लिए वह मर्यादाओं को लांघता जा रहा है। यह प्राणी मात्र के प्रति हिंसा है। हिंसा किसी भी स्तर पर क्यों न हो, हिंसा ही है। यदि हम किन्हीं बाह्य कारणों से हिंसा करते हैं तब हमें ऐसे उपाय खोजने होंगे कि हमें इस प्रकार की हिंसा से मुक्ति मिले। जैन दर्शन में अहिंसा को परिभाषित करते हुए कहा गया है 'अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो' अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति जो संयम है वही पूर्ण अहिंसा है। जहाँ भी जीवन है मानव संयम करे। एक सामान्य व्यक्ति के लिए अहिंसा पूर्णतया वैज्ञानिक, तर्कसंगत एवं विवेकपूर्ण है। अहिंसा का सिद्धान्त मानवोचित कर्म की आधारशिला है। हिंसा न केवल मानव को पतित करती है बल्कि उसके परिणाम भी अन्ततोगत्वा मानव को ही भोगने पड़ते हैं। अहिंसा के द्वारा ही व्यक्ति का रूपान्तरण सम्भव होता है। हिंसा को जीवन का साधन बनाना अनुचित है। मानव को हिंसा से दूर ले जाना एवं उसे अहिंसा के महत्त्व को समझाना ज्यादा कठिन नहीं है आवश्यकता है केवल सतर्क मानवीय प्रयासों की। विज्ञान और संसाधनों की सहायता से इसकी अनिवार्यता, उपयोगिता एवं प्रामाणिकता को जन-जन तक पहुँचाया जा सकता है।

जैन दर्शन हिंसा को दो प्रकारों में विभक्त करता है—भाव हिंसा और द्रव्य हिंसा। व्यावहारिक दृष्टि से प्राणवध हिंसा है और प्राणवध न करना अहिंसा है। परन्तु यह केवल द्रव्य हिंसा पर लागू होता है, वह भी एक सीमा तक। किसी भी प्रकार का कष्ट जिसका कारण मानव कर्म है वह हिंसा की श्रेणी में आता है। इस प्रकार राग, द्वेष, क्रोध, अपशब्द आदि भाव हिंसा में आते हैं। मनुष्य जो क्रियाएं सम्पन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है वे मन, वचन और कर्म से सम्पन्न होती हैं। यहाँ कर्म का अर्थ शरीर के अंग के संचालन से भी है। इस प्रकार भाव हिंसा का जन्म होता है। मनुष्य की भाव हिंसा उसे द्रव्य हिंसा के लिए प्रेरित करती है। अतः सर्वप्रथम भाव हिंसा को मिटाना आवश्यक है। जब तक व्यक्ति हिंसा को उचित मानता है तब तक भाव हिंसा की स्थिति में रहता है। अहिंसा के लिए द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकार की हिंसा से मुक्त होना अनिवार्य है। अहिंसा का महाव्रत धारण करना कठिन हो सकता है परन्तु अहिंसा के अणुव्रत को धारण करने में कोई कठिनाई नहीं है। मन, वचन एवं कर्म से हिंसा का परित्याग करना मानव के लिए अप्राकृतिक नहीं है। उसका विवेक एवं ज्ञान उसके लिए पर्याप्त है। हिंसा का भाव उदय होने पर मानव को उसका ज्ञान होता है। इसी प्रकार अहिंसा की श्रेष्ठता से भी वह परिचित होता है। अहिंसा का दर्शन प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारी है। जैन दर्शन पुद्गल मात्र के लिए अहिंसा को अनिवार्य मानता है। भगवान् महावीर कहते हैं कि सम्यक् दर्शन, सम्यक चारित्र, सम्यक् ज्ञान में सम्यक् शब्द अहिंसा को ही इंगित करता है। मानव का दर्शन, चारित्र, कर्म, भोजन इत्यादि सभी सम्यक् होने चाहिए, अहिंसक होने चाहिए।

आज मानव ने भौतिक विकास और समृद्धि से जीवन को नया आयाम दे डाला है। वैज्ञानिक प्रयासों ने समाज को नए-नए साधन दिये हैं। इन साधनों एवं मानवीय ऊर्जा का अनियंत्रित अतिरेक एवं असम्यक् प्रयोग हुआ है। यह जानकर दुख होता है कि अपनी विकसित अवस्था में भी मानव हिंसा को छोड़ नहीं पा रहा है। आज मात्र प्राणी विज्ञान के विद्यार्थियों को शिक्षित करने के लिए प्रति वर्ष १५० लाख से अधिक प्राणियों की हत्या कर दी जाती हैं। जंगल तेजी से कट रहे हैं। नदी, भूमि एवं सागरीय जल दूषित होते जा रहे हैं। ध्वनि, वायु एवं अन्तरिक्ष में प्रदूषण तेजी से बढ़ रहा है। मानव ने कूड़े को अन्तरिक्ष तक पहुँचा दिया है। शोषण तथा प्रकृति के दोहन का यह कृत्य इतना भयानक है कि विकासशील देश का एक व्यक्ति तीन वर्षों में जितना भोजन करता है उससे कहीं अधिक खाद्य सामग्री और सम्बन्धित उत्पादों का कचरा प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति, विकसित देशों का उत्पाद है। अमेरिका जैसे विकसित देश में प्रति व्यक्ति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रति वर्ष एक टन से भी अधिक कूड़ा फेंका जाता है। रासायनिक, जैव रासायनिक एवं अन्य प्रकार के प्रदूषण का आंकलन तो और भी ज्यादा हैं।

वैज्ञानिक शोध में, विशेषकर चिकित्सा एवं कीटनाशकों इत्यादि में शोध के नाम पर कितने ही अनुचित प्रयोग किये जा रहे हैं। यदि विशेष कारणवश प्राणियों पर प्रयोग किये जायें तो भी ये प्रयोग मानवीय होने चाहिये। प्राणियों के इस मूक बलिदान से मानव उपकृत हुआ है तथा उसका यह उत्तरदायित्व है कि वह अतिशीघ्र ऐसे उपाय विकसित करे जिससे उसे इस हिंसा से मुक्ति मिल सके। हिंसात्मक शोध की इस दिशा को परिवर्तित करना आवश्यक है। जिस प्रकार प्रदूषण रहित ऊर्जा के स्रोतों का विकास किया गया है। उसी प्रकार की समझ और शोध प्रणालियों को विकसित करना आवश्यक है वैज्ञानिक शोध, उत्पादन, चिकित्सा, शिक्षा आदि सभी क्षेत्रों में अहिंसा को अनिवार्य नियम बनाना आवश्यक हैं। आज यह आवश्यक हो गया है कि अहिंसा को सिद्धान्ततः प्रत्येक क्षेत्र में अनिवार्य बनाकर व्यवहार में लाना होगा। वैज्ञानिकों को उन प्रयोगों, यंत्रों एवं साधनों के विकास से अपने आप को पूर्णतया पृथक् करना होगा जिनका परिणाम हिंसा है। शस्त्रों, जैव रासायनिक विषों एवं विभिन्न उत्पादनों के प्रयोग एवं उत्पादन पर पुनर्विचार करना आवश्यक है। अहिंसा का नियम मानव के लिए वांछनीय होना चाहिये। यांत्रिक विकास के साथ जो साधन विकसित हुए हैं उनसे प्रचुर मात्रा में प्रकृति का दोहन और शोषण हो रहा है। प्रकृति के दोहन की आवश्यकता निरन्तर बढ़ती जा रही है जो अनुचित है। होना यह चाहिये कि जनसंख्या का विस्तार घटे और मानव अपनी जनसंख्या को उसी सीमा तक ही बढ़ायें जिससे प्रकृति का संतुलन न बिगड़े। प्रकृति स्वभावतः अपने संतुलन को बनाए रखने का भरसक प्रयत्न करती है परन्तु मानव उस संतुलन को निरंतर नष्ट करने का प्रयास कर रहा है।

समस्या का एक और विचारणीय पहलू सामाजिक क्षेत्र में व्याप्त हिंसा का है। दूसरे शब्दों में यह समस्या सामाजिक पर्यावरण में हिंसा से संबंधित है। हिंसा साध्य या साधन किसी भी रूप में अनुचित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। स्वार्थ से पराभूत तथा भोग को एक मात्र लक्ष्य मान लेने वाली आधुनिक मानसिकता ने समाज में व्याप्त पारस्परिक सहयोग, सद्-भाव, प्रेम, त्याग इत्यादि मूल्यों को अप्रासंगिक एवं अव्यावहारिक बना दिया है। सामाजिक क्षेत्रों, विशेषकर राजनीति एवं आर्थिक साम्राज्यवाद ने हिंसा को अपना साधन बनाया है साम्प्रदायिक, जातीय एवं आतंककारी हिंसा पूरे विश्व-जीवन में व्याप्त है। हिंसा का प्रभाव बढ़ रहा है तथा उसे निर्णायक भी समझा जाने लगा है। इससे स्पष्ट होता है कि मानव का स्तर गिरा है और उसका वैचारिक एवं मानवीय पक्ष भी क्षीण हुआ है। आचारांग सूत्र के अनुसार 'इह 'संति-गया दविया, णांव करंवंति जीविअं' अर्थात् संयंमी पुरुष अन्य प्राणियों की हिंसा के द्वारा अपना जीवन चलाना नहीं चाहते। संयम करने का निर्देश सर्वप्रथम हिंसा न करना है। अपनी तुच्छ वासनाओं और महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सभी क्षेत्रों में हिंसा का बढ़ता प्रयोग समाज एवं मानव के लिए खतरे की घंटी है। आने वाले मानव में अहिंसा की प्रवृत्ति को संस्कारित करना होगा, अहिंसा के समाज दर्शन को जीवन-पद्धति बनाना होगा।

आज विज्ञान मानव के जीवन पद्धति का अभिन्न अंग बन चुका है। वैज्ञानिक प्रयासों को भी अहिंसात्मक प्रणालियों के द्वारा विकसित करने की आवश्यकता है। विज्ञान मानता है कि मानव पर्यावरण का ही एक महत्त्वपूर्ण घटक है और जनसंख्या वृद्धि ने उसे अत्यधिक प्रभा-वित किया है। विज्ञान और ज्ञान का सम्यक् एवं विवेकपूर्ण उपयोग आवश्यक है। विज्ञान एवं पर्यावरण किसी राष्ट्र, समाज अथवा व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है, उस पर तो सम्पूर्ण मानवता का अधिकार है एवं उसके प्रति सभी समान रूप से उत्तरदायी हैं।

अहिंसा जैन शासन का महामन्त्र है। तत्त्वार्थसूत्र में मन-वचन-काय योग से जीव के भाव प्राण, द्रव्य प्राण अथवा दोनों का वियोग करना ही हिंसा कहा गया है। यहाँ तक कि बिना प्रयोजन जहां-तहां जाना, वृक्षादि का छेदन, पृथ्वी खोदना, जल बिखेरना, अग्नि जलाना आदि भी हिंसा का ही रूप कहा गया है। अतः अहिंसा के महत्त्व को जन सामान्य तक पहुँचाना तथा अहिंसा को अनिवार्य मानव धर्म के रूप में स्वीकार करना होगा। वैज्ञानिक प्रगति एवं विभिन्न कर्मों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए अहिंसा को अनिवार्य नियम के रूप में अपनाना होगा। अहिंसा मानव के साध्य और साधनों की कसौटी है और सभी साध्यों और साधनों का अहिंसात्मक होना अनिवार्य है। अहिंसा मानव कर्म के मानवोचित होने का दर्शन है। भारतीय दर्शन में अहिंसा प्रथम संयम है। मानवीय हिंसा मानव समाज के सहयोग के बिना संभव नहीं है इसलिए अहिंसा के सिद्धान्त को मानव जीवन की पद्धति बनाना अनिवार्य है, मानव पर्यावरण का एक घटक है और विज्ञान उसके जीवन का एक साधन है। अतः पर्यावरण के प्रदूषित होने का और उसके असंतुलित होने का कारण बनने वाले साधनों में कमी करना अति आवश्यक है। साथ ही मानव को अपने पर्यावरण के प्रति सहिष्णुता के भाव को जागृत करना होगा, जो अहिंसा के भाव द्वारा ही संभव है। अतः अपने पर्यावरण का सम्यक् एवं अहिंसात्मक उपयोग करना ही मानव मात्र का कर्त्तव्य है, उसका धर्म है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद एवं शून्यवाद की समन्वयात्मक दृष्टि

—डॉ० (कु०) रत्ना श्रीवास्तवा*

लगभग सभी दार्शनिक पद्धतियों ने जगत एवं तत्त्व के विषय में अपनी-अपनी विशिष्ट मान्यताएँ स्थापित की हैं। इस मान्यता—स्थापन में मात्र अपने सिद्धांत को सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करने तक ही वे सीमित नहीं रहे वरन् पूर्ववर्ती एवं समसामयिक मान्यताओं का खण्डन भी करते रहे। दार्शनिकों की इस प्रवृत्ति के कारण इतने मत एवं दार्शनिक विचार अस्तित्व में आये कि यह समस्या हो गई कि कौन से विचार यथार्थ हैं और कौन से अयथार्थ। इस खण्डन एवं मण्डन के परिवेश में भारत में ऐसे दो दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने पूर्ववर्ती विचारधाराओं की तत्त्वविषयक मान्यताओं में समन्वय का प्रयास किया। ये दो विचारधाराएँ हैं—जैन दर्शन का स्याद्वाद एवं बौद्ध दर्शन का शून्यवाद। उक्त दोनों विचार धाराओं ने किस प्रकार समन्वय का प्रयास किया यही बतलाना इस लेख का मन्तव्य है। इस क्रम में हम सर्वप्रथम विभिन्न भारतीय दार्शनिकों की तत्त्व विषयक मान्यताओं पर विचार करेंगे—

इसमें दो मत नहीं कि भारतीय परिवेश अति प्राचीन काल से ही स्वतन्त्र चिन्तन के अनुकूल रहा है। प्रत्येक विचारक को अपने सिद्धान्तों एवं मूल्यों के अनुकूल चिन्तन करने एवं जीवित रहने की स्वतन्त्रता रही है। यही वैचारिक स्वतन्त्रता समस्त तत्त्व विषयक मत वैभिन्न्य एवं विवादों की जड़ थी। इन विचारकों के सम्मुख प्रमुख समस्या जगत की उत्पत्ति, विनाश, उत्पत्ति कारणता एवं तत्त्व का स्वरूप था। किञ्चित् विचारकों ने जगत्-उत्पत्ति को 'सत्'; तो कुछ ने असत् की कोटि में रखा एवं कुछ ने 'सत्' एवं "असत्" दोनों को माना। वेद, उपनिषद् एवं गीता में तद्विषयक स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।

---

* डिप्लोमा छात्रा, पा० शोधपीठ, वाराणसी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋग्वेद में सत् एवं असत् दोनों को जगत्-उत्पत्ति का कारण माना है। ऋग्वेद के दशम मण्डल[1] में असत् से, जो अव्यक्त है, नाम रूप से जो युक्त नहीं है, अर्थात् विशुद्ध ब्रह्म जिसमें कोई विकार नहीं है, सत् की उत्पत्ति वर्णित है। ऋग्वेद में यह भी उल्लेख मिलता है कि तत्त्व तो एक ही है किन्तु उसी को विद्वज्जन नाना प्रकार से अभिहित करते हैं—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।'

उपनिषदों में कहीं 'सत्' को तो कहीं 'असत्' को जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद्[2] में सत् को मूल कारण माना गया है। तैत्तिरीयोपनिषद्[3] में असत् को जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण माना गया है। 'उपनिषदों में ही कहीं-कहीं पर जैसे कि छान्दोग्य उपनिषद[4] में सत्-असत् दोनों को जगत् का मूल मानने वाले विचार वर्णित हैं।

गीता में भी तत्त्व के सत्-असत् होने से सम्बन्धित विचार वर्णित हैं।[5]

उपर्युक्त मतों के विपरीत बौद्ध दर्शन जगत् की उत्पत्ति अकारण मानता है।

मूल तत्त्वों की संख्या के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। कहीं पर मूलतत्वों की संख्या एक मानी गयी है तो कहीं पर चतुर्भूतों द्वारा जगत्-सृष्टि मानी गयी है तो कहीं पर मूल तत्वों की संख्या छः मानी गयी है। कुछ विचारक तत्त्वों को नित्य मानते हैं जैसे शाश्वतवादी जो कुछ अनित्य मानते हैं जैसे उच्छेद्वादी।

उपर्युक्त चर्चा का तात्पर्य यही है कि तत्त्वों की संख्या, प्रकृति, आदि के विषय में दार्शनिक सिद्धान्तों में पर्याप्त मतभेद एवं

---

१. देवानां पूर्वे युगेऽसतः सदजायतः। ऋग्वेद १०।७२।४

२. असदेवेदमग्रासीत्। तत् सदासीत्। तत्समभवत्।
छान्दोग्योपनिषद् ३।९।२

३. असद्वा इदमग्रासीत् ततो वै सदजायत्। तैत्तिरीयोपनिषद् २।७

४. सदेवंसोम्येमग्रासीन् एकमेवाद्वितीयत।
तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति॥ —छांदोग्योपनिषद् ७।२।३

५. गीता, १३।१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभिन्नता पायी जाती है। इस परिप्रेक्ष्य में डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्[1] का अभिमत है कि यह एक युग था जो अद्भुत् अनियमितताओं एवं पारस्परिक विरोधों से भरपूर था।..... तन्त्र-मन्त्र एवं विज्ञान, संशयवाद एवं अंधविश्वास, स्वच्छन्द जीवन एवं तपस्या साथ-साथ एक दूसरे से मिले-जुले पाये जाते हैं।

मतभेदों में समन्वय का प्रयास—परस्पर मतभेद एवं वैमत्य के परिवेश में जैन दर्शन ने स्याद्वाद के माध्यम से एवं बौद्ध दर्शन के शून्यवाद के द्वारा यह प्रतिपादित किया कि किसी सिद्धांत के किञ्चित् अंश के सत्य या असत्य होने से पूरे वाद या सिद्धान्त को सत्य या असत्य मानकर खण्डित कर देना उचित नहीं है। न तो कोई विचार पूर्णतया मिथ्या है और न ही कोई पूर्णतया सत्य। समस्त सिद्धांत एकांश रूप से ही गलत या सही हो सकते हैं। परन्तु इसके विपरीत अधिकांश वादों ने एकांतवादी दृष्टि अपनायी। फलतः वे अपने मत को ही पूर्णतया सत्य एवं दूसरों के मत को पूर्णतया मिथ्या मानते रहे। स्याद्वादियों एवं शून्यवादियों—दोनों ने ही 'तत्त्व' के प्रति अनेकांतवादी विचारधारा अपनायी। इन दोनों ने यह सिद्धांत अपनाया कि सभी वादों में कुछ सत्यांश विद्यमान हैं, इसी प्रकार मिथ्या का अंश भी विद्यमान है। इन दोनों ही विचारकों ने न तो किसी एक विशिष्ट सिद्धांत का पूर्णतया खण्डन ही किया और न किसी एक का पूर्णतया मण्डन ही किया। अपितु उन्होंने तो उन पूर्व विचारों को ही जो-जो यत्र-तत्र बिखरे पड़े थे, उनका संग्रह करके उनमें उचित संशोधन करके एक नवीन रूप दे दिया।

उल्लेखनीय है कि शून्यवादियों ने समन्वय हेतु तत्त्व के प्रति "निषेधात्मक" दृष्टिकोण अपनाया जबकि स्याद्वादियों ने 'विधेयात्मक' दृष्टि को अंगीकार किया। शून्यवादियों के मतानुसार 'तत्त्व' सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और सत्-असत् उभय रूप भी नहीं है और सत्-असत् अनुभय रूप भी नहीं है। दूसरे शब्दों में शून्यवादियों की दृष्टि में तत्त्व चतुष्कोटि विनिर्मुक्त अर्थात् 'शून्य' है। इसके विपरीत स्याद्वादियों ने विधेयात्मक दृष्टि अपनाते हुए यह

१. डॉ० राधाकृष्णन्, एस. भारतीय दर्शन (भाग १) पृ० १२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपादित किया कि तत्त्व सत् भी है असत् भी है, सत्-असत् उभय रूप एवं अनुभय रूप भी है।

शून्यवाद एवं स्याद्वाद दोनों विचारधाराओं ने उक्त दृष्टि अपनाई, उसके पीछे मुझे प्रथम कारण तो यह प्रतीत होता है कि दोनों ही विचारक चूँकि अहिंसावादी थे इसलिए अहिंसावादी होने के कारण इन्होंने अपने धर्म या दर्शन में अहिंसा को प्रमुखता प्रदान की एवं जो विचारक अपने चिन्तन एवं आचार में अहिंसा को प्रमुखता देते हैं उनके स्वभाव से शांति ही परिलक्षित होती है। वे दूसरों से वाद-विवाद करना नहीं चाहते हैं। सम्भवतः इसी कारण ही स्याद्वादी एवं शून्यवादी दार्शनिकों ने दार्शनिक क्षेत्र में, सर्वत्र व्याप्त अशांति को दूर करने का भरपूर प्रयास किया।

शून्यवादियों एवं स्याद्वादियों दोनों ने ही यह अनुभव किया कि तत्त्व का स्वरूप नाना प्रकारक होने से, परिवर्तनशील होने से उसके विषय में कोई एक निश्चित कथन सम्भव नहीं है। दूसरे तत्त्व सापेक्ष है निरपेक्ष नहीं, उसके अनेक पक्ष हैं, इस कारण तत्त्व के विषय में कोई भी एकान्तिक कथन सम्भव नहीं। तत्त्व के विषय में एक पक्ष का कथन करने पर दूसरा पक्ष अवश्य ही अकथित रह जाता है। इस समस्या के समाधान के लिए स्याद्वादियों ने 'सप्तभंगी नय" को प्रतिपादित किया जिसमें वस्तु विषयक कथन सात प्रकार से किये जा सकते हैं। उनकी दृष्टि में अनन्तधर्मात्मक वस्तु के समस्त धर्मों का एक साथ कथन सम्भव नहीं है किन्तु उन धर्मों को सात प्रकार के कथनों में समाहित किया जा सकता है।

शून्यवादियों ने वस्तुओं की निरन्तर परिवर्तनशीलता के कारण, वस्तु के एक निश्चित धर्म के न होने से उसके विषय में कोई भी एक निश्चित कथन करना उचित नहीं समझा। कारण यह कि किसी एक के कथन से वस्तु विषयक समस्त रूपों को वर्णित नहीं किया जा सकता। अतः उन्होंने तत्त्व या वस्तु को 'शून्य' की संज्ञा दी, जो कि चतुष्कोटि विनिर्मुक्त अर्थात् अनिर्वचनीयता का सूचक है। दोनों ने ही वस्तु को 'अनन्तधर्मात्मक' ही समझा। किन्तु स्याद्वाद ने सप्तभंगी नय का सहारा लेकर उसे व्यक्त कर दिया जबकि शून्यवाद ने 'शून्य'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द द्वारा उसे अव्यक्त ही रहने दिया अर्थात् यद्यपि दोनों के तत्त्व विषयक भाव तो एक ही हैं किन्तु उनकी कथन शैली परस्पर भिन्न है। स्याद्वाद एवं शून्यवाद का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

स्याद्वाद परिचय—स्याद्वाद दो शब्दों के योग का परिणाम है स्यात्+वाद=स्याद्वाद। स्यात् का अर्थ है सापेक्षता एवं वाद का अर्थ सिद्धान्त या वदन करना। इस प्रकार स्याद्वाद का अर्थ हुआ सापेक्षता पूर्वक कथन करने का सिद्धांत। स्याद्वादमञ्जरी[1] के अनुसार स्यात् शब्द एकांतता का निराकरण करके अनेकांतता को प्रतिपादित करता है। "स्यात्" यह अव्यय अनेकांत का द्योतक है, इसीलिए स्याद्वाद को अनेकांतवाद कहते हैं। सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य आदि एकांतिक वचनों का निषेध करके वस्तु का कथंचित् सत्, कथंचित् असत्, कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य आदि रूप होना अनेकांत है एवं वस्तु (तत्त्व) के उस अनेकान्तात्मक स्वरूप के कथन करने की विधि स्याद्वाद है—

'अनेकांतात्मकं कथनं स्याद्वादः[2]

स्याद्वाद में प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द किसी भी वस्तु विषयक कथन की सापेक्षता को ही संकेतित करता है। इसके सात भंग हैं – (१) स्यात् अस्ति (२) स्यात् नास्ति (३) स्यात् अस्ति च नास्ति च (४) स्यात् अवक्तव्यम् (५) स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् (६) स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् (७) स्यात् अस्ति च, नास्ति च अवक्तव्यम् च।

स्याद्वादियों का मन्तव्य था कि वस्तुओं के अनन्त धर्म हैं और सभी धर्म वस्तुओं में सदा विद्यमान रहते हैं। ऐसा नहीं कि किसी समय उसमें एक धर्म हो और दूसरा धर्म न हो। किन्तु जब हम वस्तु-विषयक कोई कथन करते हैं तो उन धर्मों में से कोई धर्म प्रमुख हो जाता है एवं कोई गौण। किन्तु सभी धर्म वस्तु में रहते अवश्य हैं। वस्तु के अनन्त धर्मों का इन सात भंगों के माध्यम से कथन किया जा सकता है। संक्षेप में स्याद्वाद का तात्पर्य यही है कि (१) यह प्रत्येक कथन या

१. डा० राधाकृष्णन्, एस. पूर्वोक्त पृ. १२८

२. स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकं ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादः

(स्याद्वादमञ्जरी, ५) का व्याख्यार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाक्य को सापेक्ष एवं सीमित करता है (२) वस्तुओं के अनन्तधर्मों को व्यक्त करता है। (३) सर्वथा एकांतता का विरोध करता है, चाहे वह किसी वाक्य या भाषा में हो या वस्तु का स्वरूप हो आदि।

शून्यवाद परिचय – शून्यवाद तत्त्व विषयक सिद्धांत है। यहाँ 'शून्य' शब्द सामान्य प्रचलित अर्थ 'अभाव' से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शून्य का तात्पर्य है चतुष्कोटि (सत्, असत्, सत्-असत् उभय, सत्-असत् अनुभय) विनिर्मुक्त अर्थात् अनिर्वचनीय। इसमें परमतत्त्व एवं भौतिक तत्त्व दोनों शून्य हैं। शून्यवाद के प्रणेता नागार्जुन के मत में परमतत्त्व का पूर्ण ज्ञान हमारी बुद्धि से परे है। अतः परमतत्त्व के विषयमें कोई भी कथन अपूर्ण होगा एवं विकारयुक्त होगा। भौतिक तत्त्व भी शून्य कहे गये हैं क्योंकि बुद्धि द्वारा वस्तुओं का स्वभाव ज्ञात कर पाना दुष्कर है। कारण यह कि वस्तुएँ सतत उत्पन्न होती रहती हैं, सर्वदा परिवर्तन शील हैं, एक जैसी नहीं रहती हैं। वस्तुतः वस्तुएं चतुष्कोटि—सत्, असत्, सत्-असत् उभय, सत्-असत् अनुभय विनिर्मुक्त हैं)। नागार्जुन ने प्रतीत्य समुत्पाद को ही शून्यता कहा—**"यः प्रतीत्य-समुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे"**[1] इन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से वस्तुविषयक अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धांत के अनुसार वस्तुएं परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं। वस्तुओं के सभी धर्म अपनी उत्पत्ति के लिए अन्य पर आश्रित है—अतः जितने धर्म हैं सभी शून्य हैं। इस विचार से यह स्पष्ट है कि वस्तुओं के परावलम्बन को, उसकी निरन्तर परिवर्तनशीलता को, उसकी अवर्णनीयता को ही "शून्य" की संज्ञा दी गई है (मध्यमक शास्त्र अध्याय २४, कारिका १८, १९) निःस्वभावता ही वस्तु का पारमार्थिक स्वभाव है जैसा कि बोधिचर्यावतार में कहा गया है—एवं निःस्वभावतैव सर्वभावानां निजं पारमार्थिकं रूपमवष्ठितं।

शून्यवाद में सभी एकांतिक मतों से परे मध्यम मार्ग को ही अपनाया गया है। इस विचार धारा में तत्त्व को दोनों अतियों (सत् एवं असत्) से मुक्त रखा गया है। शून्यवाद अभाववाद नहीं है। इसकी प्रतिपत्ति भावात्मक नहीं किन्तु निषेधात्मक है, (उपनिषद् के नेति-नेति

१. माध्यमिक कारिका २४।१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की भाँति। प्रतीत्यसमुत्पाद का समर्थक होने के कारण हम शून्यवाद को सापेक्षवाद भी कह सकते हैं क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार किसी भी वस्तु या विषय का अपना कोई निश्चित, निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र स्वभाव नहीं है। अतः तत्त्व सम्बन्धी कोई भी विचार या कथन निरपेक्ष ढंग से नहीं किया जा सकता।

स्याद्वाद एवं शून्यवाद में निहित भेदाभेद :

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के परिचयात्मक विवरण से स्पष्ट है कि स्याद्वाद भावपरक एवं शून्यवाद निषेधपरक है। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर दोनों में कोई साम्य नहीं प्रतीत होता है। परन्तु दोनों ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन, वस्तुतः मानव ज्ञान की अपूर्णता एवं मर्यादा, भावाभिव्यक्ति की सीमा, वस्तुविषयक परस्पर सापेक्षता एवं वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता की दृष्टि में रखकर किया गया है। आगे दोनों सिद्धान्तों में निहित परस्पर साम्य एवं वैषम्य के तत्त्वों पर विचार करेंगे :—

(क) दोनों सिद्धान्त एकान्तिक मन्तव्यों के निषेधक एवं अनेकान्तिक विचारों के विधेयक हैं। बुद्ध ने शाश्वतवाद, व उच्छेदवाद को एकान्तिक होने से असत्य या मिथ्या कहा और इन्हें त्यागने का उपदेश दिया। उनकी दृष्टि में केवल अपने ही विचारों को सर्वोत्कृष्ट समझने के कारण ही कोई भी विचारक अपनी अपेक्षा अन्य को हेय समझता है। इसी कारण उसका ऐसा विचार विवादग्रस्त है। बुद्ध ने स्पष्ट कहा—**दिट्ठिम्मि सो न पच्चेति किच्चं**' अर्थात् विद्वज्जन ऐसी विचारधाराओं में विश्वास नहीं करते हैं। बुद्ध के इन्हीं उपदेशों के आलोक में सभी पूर्व-विवादों का अन्त करने के लिए, सभी मतों के निषेध रूप शून्यवाद की स्थापना की गई।

महावीर ने वादों की कमियों का उल्लेख करके उनमें समन्वय की दृष्टि से उपदेश दिया।

दोनों मत सापेक्षिक दृष्टिकोण अपनाकर ही एकान्तिक मतों का निराकरण करते हैं। वस्तुतः शून्यवाद का 'शून्य' तथा स्याद्वाद में संलग्न स्याद शब्द सापेक्षता के ही सूचक हैं। यहाँ यह कहना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असंगत न होगा कि शून्य और स्याद् शब्दों के द्वारा प्रसंग-विशेष में प्रदत्त विशिष्ट अर्थों को न समझ सकने के कारण ही इन पर क्रमशः अभाववाद तथा संशयवाद या निश्चयवाद या अनिश्चयवाद के आरोप लगे हैं। विद्वानों ने शून्य का अर्थ अभाव लिया तथा स्याद् का अर्थ सम्भवतः कदाचित्, संशय आदि लिया।

(ख) सामान्य मानव के ज्ञान की मर्यादा है जबकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अतः वस्तु का पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है और यदि हम मान भी लें कि वस्तु विषयक यथार्थ ज्ञान पूर्ण रूप से सम्भव नहीं है तो भी वस्तु विषयक सभी कथनों का युगपत् कथन मानव की वाणी में सामर्थ्य से परे है। उदाहरणार्थ एक ही पुष्प के रूप, रंग, खिलने, बिखरने आदि को एक समय में नहीं कह सकते हैं। वस्तु-स्वभाव को इसी कारण शून्यवादियों ने अनिर्वचनीय कहा, जो शून्य का भावात्मक अर्थ है। इसी अनिर्वचनीयता को जैन दार्शनिकों ने स्याद्वाद के माध्यम से व्यक्त किया।

(ग) दोनों विचारकों का एक मात्र उद्देश्य वस्तु के चित्र-विचित्र स्वभाव के ग्रहण में मानव की अक्षमता बताना ही था। मानवगत अक्षमता का अनुभव करके ही बुद्ध ने जीव, जगत, तत्त्वादि विचारों को निरर्थक कहकर त्याग दिया। उनके अनुसार वस्तुओं का एक निश्चित स्वभाव नहीं है, इसी कारण उन्होंने उसे अनिर्वचनीय, अव्याख्येय, शून्य कहा। महावीर ने वस्तुविषयक अनन्त धर्मों को, विधिपरक सिद्धान्त अपनाकर स्यात् शब्द द्वारा व्यक्त किया। मूलरूप से दोनों ने वस्तु के अनन्त धर्मों का अनुभव किया किन्तु एक ने उसका वर्णन निषेध द्वारा तो दूसरे ने विधि द्वारा किया।

(घ) शून्यवादी एवं स्याद्वादी दोनों ने ही वस्तु स्वरूप के विषय में अभिव्यक्ति की असमर्थता को स्वीकार किया है। इसकारण उन्होंने उसे अनिर्वचनीय एवं अव्यक्त कहा है। सभी विचारक इनदोनों शब्दों को प्रायः एक ही अर्थ में रख लेते हैं। मुझे इसमें कुछ भिन्नता दिखाई देती है। स्याद्वादियों ने वस्तु विषयक कथन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अव्यक्त है' एवं 'अव्यक्त नहीं है' इन दोनों पक्षों को समाहित किया है किन्तु शून्यवादियों ने वस्तुविषयक अनिर्वचनीयता के प्रसंग में ऐसा कोई संकेत नहीं किया है। इस परिप्रेक्ष्य में शून्यवाद अव्यक्तता के ऐकान्तिक मत का प्रतिपादक लगता है। यह बात अलग है कि उन्होंने लौकिक स्तर पर वस्तु विषयक कथन को निर्वचनीय माना है, किन्तु जब कथन की बात आती है तब वहाँ वे एकान्तिक मत के पक्ष में दिखायी देते हैं।

(ङ) शून्यवाद और स्याद्वाद दोनों ने यह स्वीकार किया कि व्यावहारिक स्तर पर तत्त्वविषयक कथन सम्भव है, किन्तु पारमार्थिक स्तर पर नहीं। व्यावहारिक स्तर पर प्रयुक्त भाषा एकान्तिक ही हो सकती है। इसी कारण यह मिथ्या होते हैं। पारमार्थिक स्तर पर वस्तु विषयक कथन के लिए हमारे पास अनेकान्तिक कोई भाषा ही नहीं है। व्यवहार और परमार्थ को शून्यवादियों ने संवृति सत्य और पारमार्थिक सत्य द्वारा व्यक्त किया है तो स्याद्वाद ने व्यवहारनय एवं निश्चयनय के माध्यम से। यद्यपि दोनों शब्द भिन्न हैं, किन्तु भाव एक ही है।

(च) दोनों ही सिद्धान्तों की यह मान्यता है कि यदि एक भाव का परमार्थ स्वरूप ज्ञात कर लिया तो सभी भावों का परमार्थ स्वरूप ज्ञात कर लिया ऐसा मानना चाहिए—जो एक को जानता है वह सबको जानता है। जो सबको जानता है वह एक को जानता है[1]। बौद्धाचार्य चन्द्रकीर्ति का भी यही मन्तव्य है[2]।

(छ) शून्यवादियों को निषेधपरक दृष्टि अपनाने के लिए निर्विकल्पी तथा स्याद्वादियों को विधिपरक दृष्टि अपनाने के कारण सविकल्पी कहा जा सकता है।

(ज) शून्यवादी सभी मतों का निषेध कर देने के कारण निरपेक्षवादी भी कहे जा सकते हैं (यद्यपि उनका यह निषेध सापेक्षता की अनुभूति पर आधारित है और स्याद्वादी सभी मतों को समन्वित करके अपनाने के कारण सापेक्षवादी कहला सकते हैं।

---

१. आचारांग १।३।४

२. माध्यमक वृत्ति पृ० ५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(झ) शून्यवाद वस्तुविषयक सापेक्षता का अनुभव करके भी उसे व्यक्त नहीं करता जबकि स्याद्वाद उसे व्यक्त करता है।

(ञ) शून्यवाद ने तत्त्व के विषय में मध्यम मार्ग स्वीकार किया जबकि स्याद्वाद ने विवाद को अन्त करने का प्रयास किया उसने सभी सिद्धान्तों में समन्वय कर एक नवीन सिद्धान्त को प्रतिपादित किया।

(ट) शून्यवाद एवं स्याद्वाद दोनों ने ही तत्त्व को अनिर्वचनीय एवं अव्यक्त स्वरूप माना है किन्तु उनमें निम्न सूक्ष्म भिन्नतायें विद्यमान हैं—

(१) शून्यवाद में अनिर्वचनीयता का कारण तत्त्व का स्वरूप है किन्तु स्याद्वाद में अव्यक्तता का कारण तत्त्व सम्बन्धी कथन या भाषा की अक्षमता है। दूसरे शब्दों में शून्यवादी विषयी अर्थात् चरमतत्त्व के स्वरूप को ही अनिर्वचनीय कहते हैं जबकि स्याद्वाद की अव्यक्तता भाषात्मक है।

(२) अनिर्वचनीयता निरपेक्ष है क्योंकि इस अर्थ में तत्त्व विवेचन योग्य नहीं है। अव्यक्तता भंगसापेक्ष है। यह तत्त्व को सापेक्षतः वाच्य एवं सापेक्षतः अवाच्य बताता है।

इन दोनों सिद्धान्तों में निहित समानताओं और असमानताओं की चर्चा के बाद यह विचार करना आवश्यक है कि इन दोनों में कौन-सा मत श्रेष्ठ माना जा सकता है—

दोनों मतों ने एकान्तवादी विचारधारा का निराकरण अपने-२ ढंग से किया है। परन्तु इस प्रक्रिया में शून्यवादियों का सर्वथा निषेधात्मक दृष्टिकोण उन्हें पुनः एकान्तवादियों की श्रेणी में ही सम्मिलित करा देता है। शून्यवादियों को एकान्तवाद से बचने के लिए उसके दोनों पक्षों (तत्त्व सत् भी है और असत् भी है आदि) को समान रूप से स्वीकार करना चाहिए था। इस दृष्टि से हम स्याद्वाद को उत्तम स्वीकार करते हैं क्योंकि उन्होंने तत्त्व के विभिन्न पक्षों सत् भी है. एवं असत् भी है या सत् है भी और नहीं भी है, को समान रूप से स्वीकार किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः शून्यवाद के विषय में हम यह कहना चाहेंगे कि, जब उन्होंने तत्त्व के विषय में यह कहा है कि वह अनिर्वचनीय है तब फिर तत्त्व के लिए 'शून्य' यह कथन करना भी तो एक कथन ही है तब वे किस प्रकार कहेंगे कि तत्त्व अनिर्वचनीय है ? इसकी तुलना में हम स्याद्वाद को उत्तम कहेंगे क्योंकि उन्होंने सभी प्रकार के कथनों को (तत्त्व विषयक हों या अन्य किसी भी विषय में हों) स्वीकृति दी है। वैसे शून्यवादियों ने उपर्युक्त 'शून्य' विषयक संशय को दूर करने के लिए यह कहा है—

मान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ।। —चतुःशतकः

तथापि कथन की दृष्टि से स्याद्वाद ही अधिक उत्तमप्रतीत होता है।

शून्यवादियों की वस्तुविषयक दृष्टि अधिक समन्वयपूर्ण न होकर केवल एकांतिक मतों के विवादों का अंत ही कर पाती है जबकि स्याद्वादियों की दृष्टि पूर्णरूपेण समन्वयात्मक है क्योंकि सही माने में तो उन्होंने ही सभी मतों को ग्रहण करके एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया है।

पुनः शून्यवाद की तुलना में जब हम स्याद्वाद का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं तब हमें यह प्रतीत होता है कि सामान्य रूप से अध्ययन करने पर तो स्याद्वाद केवल समस्त पूर्व दार्शनिक विचारों का एक संग्रहमात्र है, क्योंकि इस सिद्धान्त ने समस्त दार्शनिक विचारों (तत्त्व सत् भी है, असत् भी है, सत्-असत् भी है, न सत् न असत् भी है) को संग्रहीत करके उन्हीं को एक नया रूप दे दिया है स्याद्वाद के नाम से। इस दृष्टि से हमें शून्यवाद अधिक उत्तम प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने अपने सिद्धांत में किसी भी पूर्व दार्शनिक मान्यता को स्थान नहीं दिया और न तो उनका संग्रह ही करके एक ही विषय की पुनरावृत्ति की, स्याद्वादियों की भांति।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि, यद्यपि तत्त्व के अनेक धर्मों या गुणों का अनुभव तो शून्यवादियों ने भी किया था, किन्तु उन्होंने उपर्युक्त स्याद्वाद की समस्याओं का ध्यान करके ही कोई भी तत्व विषयक कथन करना उचित नहीं समझा। वैसे स्याद्वाद की उपर्युक्त समस्या इस सिद्धान्त का सामान्य अध्ययन करने पर ही आती है किंतु जब हम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्ट अध्ययन करते हैं तो हम यह पाते हैं कि समस्त पूर्व विचारकों के विचार एकांशी सत्य ही थे सर्वांशी सत्यता की उनमें कमी थी, जिसके कारण उन समस्त विचारों को स्याद्वादियों ने संग्रहीत किया।

उपर्युक्त तर्क-वितर्कों की प्रक्रिया और दूर तक चल सकती है किन्तु मेरी दृष्टि से न तो किसी आलोचना या विवेचना का अन्त है और न ही तर्क-कुतर्क का और ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मनुष्य स्वयं स्वतन्त्रता पूर्वक चिन्तन करता है परिणामतः विचारों की विभिन्न दृष्टियाँ जन्म लेती हैं।

यह ठीक है कि स्याद्वादियों एवं शून्यवादियों ने दार्शनिक क्षेत्र में तत्त्व विषयक विवादों को दूर करने का प्रयास किया है किन्तु फिर भी इनके ये प्रयास अन्तिम नहीं कहे जा सकते और न तो उन्हें सर्वदा दोषमुक्त ही कहा जा सकता है। एकांत वादियों ने जिस प्रकार तत्त्व विषयक विचारों को प्रस्तुत किया (भले ही वे दोषयुक्त रहे हों) उसी प्रकार स्याद्वाद एवं शून्यवादियों ने भी केवल विचारों को ही प्रस्तुत किई (भले ही इनके सिद्धांतों में दोषों को दूर करने का प्रयास निहित हो)। किन्तु तत्त्व वास्तव में क्या है? इसे सम्यक् प्रकार से या पारमार्थिक दृष्टि से जान पाना असम्भव सा लगता है।

सहायक ग्रन्थ सूची

१. अनेकांतवाद : एक परिशीलन—विजयमुनि शास्त्री, सन्मतिः ज्ञानपीठ आगरा, (१९६१)

२. चतुः शतक—आर्यदेव

३. भारतीयदर्शन (भाग १)—डा० एस० राधाकृष्णन् अनु० स्व०नन्द किशोर गोभिल, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरीगेट, दिल्ली(१९६७)

४. स्याद्वादमञ्जरी—मल्लिषेण, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात) १९७०

५. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय (आधुनिक व्याख्या)—डा० भिखारी राम यादव, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी ५—(९९८९)

६ शून्यवाद एवं स्याद्वाद—पद्मभूषण पं० दलसुख मालवणिया पृ० २६५, श्री आनन्दऋषि संपा० श्रीचन्द्र सुराना अभिनन्दन ग्रन्थ श्री महाराष्ट्र स्थानकवासी जैनसंघ, साधना सदन, नानापैठ पूना (९९७५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युग पुरुष आचार्य सम्राट् आनन्द ऋषि जी म०

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

युग पुरुष अपनी महानता, प्रियता और भव्यता से जन-जन के अन्तर्मानस में अभिनव आलोक प्रदान करता है। समाज की विकृति को नष्ट कर संस्कृति का प्रचार करता है। उसका अध्यवसाय अत्यन्त तीव्र होता है जिससे कण्टकाकीर्ण पथ भी सुगम और सरल बन जाता है। पथ के शूल फूल बन जाते हैं। विपत्ति सम्पत्ति बन जाती है। महामहिम राष्ट्रसन्त आचार्य सम्राट् सच्चे युग पुरुष थे। उनमें राम के समान संकल्प शक्ति, हनुमान के समान उत्साह, अंगद के समान दृढ़ता, महावीर के समान धैर्य, बाहुबली के समान वीरता और अभय कुमार की तरह दक्षता थी। वे शेर की तरह दहाड़ते हुए अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ते थे। ये अपने युग के सच्चे प्रतिनिधि थे। समाज विकास के लिए अन्ध-विश्वासों, अन्ध-परम्पराओं और मूढ़ता पूर्ण रूढ़िवाद से जूझते रहे। स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण के लिए सदा समर्पित रहे। शिवशंकर की तरह जहर के प्याले को पीकर समाज को सदा अमृत बांटते रहे। उनका स्वभाव निस्तरंग समुद्र की तरह था, जो कोलाहल से दूर रहकर भी विकास की तरंगों से तरंगित होता था। उनका विश्वास सृजनात्मक शक्ति में था। वे सदा विरोध को विनोद मानकर कार्य करते रहे। समुद्र यात्री को सदा तूफान का भय रहता है पर कुशल नाविक तूफानी वातावरण में भी नौका को अपने लक्ष्य तक ले जाता है। आचार्य प्रवर ऊफान और तूफान से कभी घबराये नहीं, किन्तु जागरूक रहकर अपने लक्ष्य तक समाज को बढ़ाते रहे। आप श्री ने समाज को नूतन विचार, नूतन चिन्तन और नूतन वाणी प्रदान की। समाज-समुत्कर्ष के हेतु अगणित कष्ट सहन किये पर कभी भी कृतित्व का अहंकार नहीं किया। अनासक्त योगी की तरह फल की आकांक्षा किये बिना कार्य करते रहे। समाज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा में आपने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित किया इसलिए समाज हृदय से आपको चाहता था। आपके कुशल नेतृत्व में उसे विश्वास था।

आपका बाह्य व्यक्तित्व अत्यधिक नयनाभिराम था। उससे भी अधिक मनोभिराम था आभ्यन्तर व्यक्तित्व। आपकी मञ्जुल मुखाकृति पर चिन्तन की भव्य आभा सदा प्रस्फुटित होती थी। आपके तेजस्वी नेत्रों से सदा स्नेह सुधा बरसती थी। वार्तालाप में सरस शालीनता और गम्भीरता और हृदय की उदारता प्रतिबिम्बित होती थी। सरलता-सरसता का ऐसा मधुर संगम आपके जीवन में हुआ था जिसे निहारकर दर्शक प्रथम क्षण में ही श्रद्धा से विभोर हो उठता था।

आपका जन्म महाराष्ट्र की वीर भूमि में हुआ। आपके पूज्यपिता श्री का नाम देवीचन्द जी था और मातेश्वरी का नाम हुलसा बाई था। नन्हीं उम्र में सद्गुरुवर्य रत्न ऋषि जी म० के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। भारतीय धर्म और दर्शनों का गम्भीर अध्ययन किया। आपकी गम्भीर योग्यता को निहारकर ऋषि सम्प्रदाय ने अपना आचार्य बनाया। उसके पश्चात् पांच सम्प्रदाय के आचार्य बने। श्रमणसंघ बनने के पश्चात् आप श्रमण संघ के प्रधान मन्त्री और उपाध्याय पद ग्रहण करने के पश्चात् सन् १९६४ में श्रमण संघ के आचार्य सम्राट के पद पर आसीन हुए। जैन धर्म और परम्परा में आचार्य का गौरव सर्वाधिक रहा है। तीर्थंकर के अभाव में आचार्य ही संघ का सम्यक् संचालन करते हैं। वे तीर्थङ्कर के सदृश होते हैं। उनकी आज्ञा अनुलंघनीय होती है। आचार्य सम्राट् आनन्द ऋषि जी म० ऐसे ही सफल आचार्य थे। एक हजार से भी अधिक साधु साध्वी उनके कुशल नेतृत्व में आध्यात्मिक साधना में अग्रसर होते रहे हैं। भारत के विविध अञ्चलों में विचरण कर धर्म, समाज और राष्ट्र की गुरु गम्भीर ग्रन्थियों को सुलझाते रहे हैं।

वृद्धावस्था के कारण वे चिरकाल से महाराष्ट्र की पावन पुण्य धरा अहमदनगर में विराज रहे थे। भूतपूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह जी, वर्तमान उपराष्ट्रपति डा. शंकर दयाल जी शर्मा आदि भारत के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने-माने उच्च राजनेता गण और प्रबुद्ध चिन्तक सदा पथ-प्रदर्शन हेतु उनकी सेवा में पहुँचते रहे हैं और उनके मौलिक मार्ग दर्शन को पाकर अपने आपको धन्य अनुभव करते रहे हैं। नैतिक शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में उनकी सेवा अवर्णनीय रही है। वे ज्ञानयोगी थे। ध्यान योगी थे। जप योगी थे। लाखों ही नहीं, करोड़ों व्यक्तियों के अनन्त श्रद्धा के केन्द्र थे।

दिनांक २८-३-९२ शनिवार को उन्होंने जैन पद्धति के अनुसार संन्यास-संलेखना कर समाधि पूर्वक हंसते हुए मृत्यु को वरण किया है। जीवन कला के पारखी ने ९३ वर्ष तक हंसते हुए और हंसाते हुए जीवन यापन किया और अन्त समय में हंसते और मुस्कराते हुए मृत्यु को महोत्सव रूप मनाकर सदा के लिए भौतिक देह को उन्होंने त्याग किया। उनका ओजस्वी-यशस्वी और वर्चस्वी जीवन सदा ही प्रेरणा का स्रोत रहा है। हम अनन्त आस्था के साथ उस महागुरु के चरणों में श्रद्धा सुमन समर्पित करते हैं।

शायर के शब्दों में—

फूल एक गुलाब का मुरझा के चला गया।
त्याग के अनुराग से खुशबू जगत के दे गया॥

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ शोधपीठ के प्रांगण में

चार छात्रों को पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त

साध्वी प्रमोद कुमारी जी को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्रस्तुत उनके शोध प्रबन्ध 'ऋषिभाषित का दार्शनिक अध्ययन' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई।

आपने संस्थान में रहकर डा० उमेश कुमार दूबे, रीडर, दर्शन विभाग के निर्देशन में शोध कार्य सम्पन्न किया। आपके इस शोध अध्ययन में शोध पीठ के निदेशक डॉ० सागरमल जैन का विशेष योगदान रहा है।

× × ×

श्री धनंजय मिश्र को दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि० द्वारा उनके शोध प्रबन्ध 'आचार्य हरिभद्र का योगदर्शन' पर पी एच० डी० उपाधि प्रदान की गई।

आपने प्रो० सागरमल जैन के निर्देशन में शोध कार्य पूर्ण किया।

आपको शोधपीठ द्वारा स्व० कुन्दनमल फिरोदिया स्मारक छात्र-वृत्ति प्रदान की गयी।

× × ×

श्रीमती गीता सिंह को संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि० में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध 'वैदिक साहित्य में श्रमण परम्परा के तत्त्व' विषय पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। इनके भी निर्देशक प्रो० सागरमल जैन रहे।

इन्हें शोधपीठ द्वारा आचार्य विजयनन्दन सूरि मेमोरियल छात्र-वृत्ति प्रदान की गयी।

× × ×

श्रीमती अर्चना रानी पाण्डेय को दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि० द्वारा उनके शोध प्रबन्ध 'जैन भाषा-दर्शन की समस्यायें' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। प्रो० सागरमल जैन इनके निर्देशक रहे और इन्हें आचार्य विजयवल्लभ सूरि मेमोरियल छात्रवृत्ति प्रदान की गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्वी अर्चना श्री को पी-एच० डी

श्रमणसंघीया महासती स्व० श्री पन्नादेवी जी की प्रशिष्या साध्वी अर्चना श्री को 'जैन-दर्शन के आलोक में मध्ययुगीन संतकाव्य' विषय पर बम्बई विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि से विभूषित किया है।

साध्वी अर्चना श्री ने अपना शोध-प्रबंध एस. आई. ई. एस. कालेज शीव (बम्बई) के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० रविनाथ सिंह के मार्गदर्शन में तैयार किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन जगत

रोजगार-उन्मुख शिक्षा संस्थान के लिए श्री नेमनाथजी जैन द्वारा साठ लाख रुपये की घोषणा

प्रेस्टीज उद्योग समूह के प्रवर्तक श्री एन० एन० जैन ने अपनी षष्ठि-पूर्ति के अवसर पर समाज के उत्थान के लिए साठ लाख रु० के दान की घोषणा की है जो कि आगामी पाँच वर्षों में प्रेस्टीज चेरिटेबल फाउण्डेशन के माध्यम से एक बृहद् एवं बहु आयामी रोजगार-उन्मुख संस्थान के निर्माण हेतु उपयोग की जाएगी। इस आरंभिक राशि के अतिरिक्त केन्द्र व राज्य सरकारों तथा अन्य स्वैच्छिक संस्थाओं एवं दानदाताओं के सहयोग से इसे एक बृहद् आकार प्रदान किया जा सकेगा।

इस योजना के तहत प्रेस्टीज इन्स्टीट्यूट आफ वोकेशनल ट्रेनिंग (PIVOT) की स्थापना की जाएगी जो कि विभिन्न प्रकार के युवाओं को हाई स्कूल अथवा कालेज शिक्षा के पश्चात् ऐसी ट्रेनिंग देगी जिससे कि उन्हें रोजगार पाने के अवसर बढ़ें तथा वे स्वावलम्बी एवं आत्म-निर्भर बन सकें। वर्तमान शिक्षा प्रणाली का दोष यह है कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद भी व्यक्ति में व्यावहारिक ज्ञान नहीं आता तथा डिग्री उसे रोजगार दिलाने में मदद नहीं करती तथा सिर्फ कागज का एक पुर्जा मात्र रह जाती है। इसलिए वक्त की जरूरत यह है कि शिक्षा ऐसी दी जाए जो व्यक्ति को जीवन यापन में सहयोग दे सके एवं उसमें कुछ हुनर पैदा हो सके।

(PIVOT) याने प्रेस्ट्रीज इन्स्टीट्यूट आफ बोकेशनल ट्रेनिंग एक ऐसी धुरी का कार्य करेगा जो विद्यार्थियों के जीवन को मोड़कर, उनमें कार्य दक्षता स्थापित करके उन्हें ऐसे कार्य कुशल व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करेगी जिसकी माँग पहले से ही मौजूद है। इसके साथ में यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्था इस बात का भी प्रयत्न करेगी कि समाज में श्रम का भी महत्त्व बढ़े और कोई भी कार्य चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो, उसे करने में व्यक्ति गर्व का अनुभव करे।

इस संस्थान द्वारा स्नातक एवं हाई स्कूल पास विद्यार्थियों को डिप्लोमा देने के साथ-साथ ऐसे भी पाठ्यक्रम चलाये जायेंगे जिनके लिए शिक्षा की कोई न्यूनतम योग्यता निर्धारित न हो। इसके अलावा समय समय पर कम अवधि के रिफ्रेशर कोर्सेस भी चलाये जायेंगे।

सैद्धांतिक शिक्षा के साथ-साथ इस संस्थान द्वारा "आन जाब ट्रेनिंग" भी दी जाएगी तथा विभिन्न व्यावसायी एवं औद्योगिक संस्थाओं के कार्यकलापों से अवगत कराया जाएगा। विद्यार्थियों के लिए कैरियर मार्गदर्शक प्रकोष्ठ तथा एक प्लेसमेन्ट ब्यूरो द्वारा उन्हें रोजगार उपलब्ध कराया जाएगा।

कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्र जिन में प्रशिक्षण दिया जाएगा वे हैं—आफिस मेनेजमेन्ट, एक्सपोर्ट मेनेजमेन्ट, सुपरवाईजरी मेनेजमेन्ट, इण्डस्ट्रीयल सेफ्टी, कम्प्यूटर एकाउन्टिंग, लेबोरेटरी केमिस्ट, बिल्डिंग सुपरविजन, कृषि आधारित कुटीर उद्योग, ऐग्रीकल्चर ट्रेनिंग, क्रॉप प्रोटेक्शन आदि इसके अलावा प्लंबर, फिटर, कारपेन्टर, इलेक्ट्रीशियन, वेल्डर, ड्राफ्ट्समेन, पेन्टर तथा महिलाओं के लिए सिलाई-बुनाई एवं निजी सचिव आदि के लिए प्रशिक्षण भी दिया जाएगा।

इस संस्थान की प्रबन्ध समिति में समाज के प्रबुद्ध वर्ग से एवं तकनिकी शिक्षा से जुड़े व्यक्तियों का सहयोग भी लिया जायेगा। सरकार व अन्य स्वैच्छिक संस्थाओं के सहयोग से इस संस्था को तकनिकी एवं रोजगार उन्मुख शिक्षा के क्षेत्र में एक अद्वितीय स्थान प्राप्त हो सके तथा शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए यह संस्थान एक मील का पत्थर साबित हो ऐसे प्रयास किये जायेंगे।

आचार्य श्री आनन्दऋषि जी की पुण्यस्मृति में श्री पी० एस० लुंकड़ द्वारा ७१ लाख के ट्रस्ट की घोषणा

बम्बई के उद्योगपति, सेवाभावी एवं दानवीर तथा अ. भा. श्वे. स्था. जैन कान्फ्रेंस, दिल्ली के अध्यक्ष श्री पुखराजमल एस. लुंकड़ ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण संघ के आचार्य श्री आनंदऋषि जी की पुण्यस्मृति में अहमदनगर में उनकी अंत्येष्टि के दिन ३० मार्च, ९२ को अपने सातवें दशक के प्रारम्भ एवं आचार्य श्री की दीक्षा के सातवें दशक को ध्यान में रखकर लोक-कल्याण की मंगलमय भावना से धार्मिक, शैक्षणिक, चिकित्सा आदि सेवाकार्यों के लिए अपने ट्रस्टों की कुल जमा राशि ७१ लाख रुपये करने की घोषणा की है। उल्लेखनीय है कि अभी पी. एस लुंकड़ एण्ड संस चेरिटेबल ट्रस्ट तथा श्रीमती सुलोचनादेवी पी. लुंकड़ चेरिटेबल ट्रस्ट में कुल जमा राशि लगभग २५ लाख रुपये है। इस शुभ चिंतन की प्रेरणा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुलोचना देवी लुंकड़, सुपुत्र श्री देवकुमार लुंकड़ एवं राजेन्द्र लुंकड़, पुत्रवधुओं श्रीमती हंसमुक्ता एवं श्रीमती कविता लुंकड़, पौत्र सर्वश्री संजोग, राजीव एवं गौतम लुंकड़ अर्थात् पूरे परिवार की ओर से रही।

श्री पुखराजमलजी एस लुंकड़ ने कॉन्फ्रेंस के अध्यक्ष बनने के बाद कॉन्फ्रेन्स के अंतर्गत उच्च शिक्षा एवं चिकित्सा के लिए "जीवन प्रकाश" योजना प्रारम्भ की और सेवा के इस कार्य की सद्प्रेरणा से अपने निजी ट्रस्टों को समृद्ध कर उनके द्वारा पूरी मानव जाति की सेवा का कार्य प्रारम्भ किया है।

यह विशेष उल्लेखनीय है कि श्री लुंकड़जी के ट्रस्टों द्वारा सेवा का कार्य किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय के भेदभाव से परे मानवीय दृष्टिकोण से होता है एवं भविष्य में होता रहेगा। लुंकड़ परिवार का यह सेवा यज्ञ निरन्तर चलता रहे और श्री लुंकड़जी अपने द्वारा ही इन कार्यों के लिए ट्रस्टों में एक करोड़ का बड़ा फण्ड भविष्य में एकत्र करें, यही प्रभु से प्रार्थना है। — चंदनमल 'चाँद'

मरुधरा जैन अभिनन्दन समारोह

मरुधरा जैन अभिनन्दन समिति, जोधपुर के तत्वावधान में दिनांक १९.१.९२ को सरदार सीनियर उच्च माध्यमिक विद्यालय के प्रांगण में महामहिम डा० शंकर दयाल शर्मा, उपराष्ट्रपति, भारत सरकार द्वारा जैन समाज की चार अद्वितीय मूक समर्पित विभूतियों, उत्कृष्ट शिक्षाविद् एवं सेवाभावी श्री देवीचन्द जी शाह, साहित्य मनीषी एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज सुधारक प्रो० गणपतिचंद्र भण्डारी, ममतामयी माँ व समाज सेविका श्रीमती प्रसन्नकंवर भंडारी कोटा का अभिनन्दन किया गया, प्रसिद्ध अध्यात्म योगी व दृढ़ संकल्पी श्री जौहरीमल जी पारख को उनकी अनुपस्थिति में सम्मानित किया गया।

समारोह की अध्यक्षता कपड़ा राज्य संत्री श्री अशोक गहलोत ने की। समारोह में सर्वश्री डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, ब्रिटेन में भारत के उच्चायुक्त, डा. सुश्री गिरिजा व्यास, केन्द्रीय सूचना एवं प्रसारण उप-मंत्री, श्री नाथूराम मिर्धा भू पू. मंत्री व सांसद, श्री राम निवास मिर्धा—भू. पू. मंत्री व सांसद, श्री गुमान मल लोढ़ा—सांसद, श्री राम नारायण विश्नोई—ऊर्जा मंत्री, राजस्थान सरकार, श्री मोहन मेधवाल--खाद्य एवं ग्रामोद्योग मन्त्री, राजस्थान सरकार भी उपस्थित हुये।

समिति के अध्यक्ष श्री घेवरचन्द जी कानूनगो ने अतिथियों का स्वागत किया एवं डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने अभिनन्दन के प्रयोजन पर अपना विचार प्रस्तुत किया। श्री चंपालाल जी सालेचा, अध्यक्ष, नगर सुधार न्यास, जोधपुर, श्री लक्ष्मी चंद जी सुराणा, भू० पू० अध्यक्ष जोधपुर इण्डस्ट्रीज एसोसिएशन एवं रोटरी क्लब, श्री देवेन्द्र राज जी मेहता, उप-वित्त सचिव, भारत सरकार एवं श्री चंचल मल चोरडिया ने अभिनन्दन पत्रों का वाचन किया। इस अवसर पर सांसद श्री नाथूराम मिर्धा, सांसद श्री गुमानमल लोढ़ा ने भी अपने विचार व्यक्त किये। उप राष्ट्रपति महोदय ने समाज सेवियों को शाल ओढ़ाकर अभिनन्दन पत्र भेंट कर सम्मानित किया।

जैन विद्या संगोष्ठी एवं 'अर्हत्वचन' पुरस्कार वितरण समारोह

कुंदकुंद ज्ञानपीठ, इन्दौर द्वारा १२-१३, जनवरी-९२ के मध्य जैन विद्या संगोष्ठी एवम् "अर्हतवचन" पुरस्कार वितरण समारोह का आयोजन किया गया। प० पूज्य उपाध्याय मुनि श्री गुप्तिसागरजी एवम् मुनि श्री निजानन्द सागरजी के मंगल सान्निध्य में सम्पन्न इस संगोष्ठी का उद्घाटन १२.१.९२ को संहितासूरि पं० नाथूलाल शास्त्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अध्यक्षता में पद्मश्री बाबूलालजी पाटोदी ने दीप प्रज्ज्वलित कर किया।

इस अवसर पर अर्हत्वचन वर्ष—२ (दिसम्बर—८९ से सित–९०) के ४ अंकों में प्रकाशित ३ सर्वश्रेष्ठ लेखों के लेखकों को क्रमशः रु० १००१.००; रु० ७५१.०० तथा रु० ५०१.०० स्मृति चिह्न, शाल एवं श्रीफल समर्पित कर सम्मानित किया गया।

१. डा० पारसमल अग्रवाल, रीडर भौतिकी अध्ययनशाला, विक्रम वि० वि० उज्जैन (म० प्र०) २. डा० ए० व्ही. नरसिंह मूर्ति, प्राध्यापक भा० इ० सं० एवं पुरातत्व, मैसूर वि० वि० मैसूर (कर्नाटक) (अनु०) ३. डा० परमेश्वर झा, प्राचार्य को-आपरेटिव कालेज, बेगूसराय (बिहार)।

उद्घाटन सत्र (१२.१.९२, सायं ४.००-५.३०) में ही श्री देवकुमार सिंह कासलीवाल ने समागत विद्वानों के प्रति सम्मान व्यक्त किया तथा संस्था के ट्रस्टी श्री कैलाशचन्द्र चौधरी ने संस्था का परिचय दिया। संगोष्ठी के चार तकनीकी सत्रों में निम्न विद्वानों के आमंत्रित व्याख्यान हुए।

१. डा० श्याम सुन्दर निगम, रीडर—भा० इ० सं० एवं पुरातत्व; विक्रम वि० वि० उज्जैन। २. श्री प्रकाश जैन शोध सहायक। ३. डा० रमेशचन्द्र जैन, अध्यक्ष—कम्प्यूटर केन्द्र, विक्रम वि० वि०, उज्जैन। ४. प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन, निर्देशक आचार्य श्री विद्यासागर शोध संस्थान ५५४, सराफा, जबलपुर।

५. डा० रूद्रदेव त्रिपाठी, निदेशक ब्रजमोहन बिड़ला शोध केन्द्र विक्रम कीर्ति मन्दिर, उज्जैन। ६. डा० सुरेशचन्द्र अग्रवाल, प्राध्यापक—गणित उच्चशिक्षा संस्थान, मेरठ वि० वि० मेरठ। ७. डा० कमलेश जैन, शोध अध्येता—प्राकृत एवं जैनागम विभाग, श्रमण विद्या संकाय, सं० सं० वि० वि०, वाराणसी। ८. डा० परमेश्वर झा, प्राचार्य—को-आपरेटिव कालेज, बेगुसराय (बिहार) ९. डा० बी० एल० नागार्च, मन्दिर सर्वेक्षण योजना, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, भोपाल। १०. डा० राममोहन शुक्ल, सहा० प्राध्यापक, वनस्पति, शास्त्र, शासकीय महाविद्यालय, सारंगपुर। ११. ब्र. सुमन जैन, संघस्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय मुनि श्री गुप्तिसागरजी। १२. ब्र. प्रभा जैन, संघस्थ आचार्य श्री विद्यासागरजी। १३. डा० टी० व्ही० जी० शास्त्री, निदेशक (पुरातत्त्व) कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर।

संगोष्ठी का संचालन-संयोजन श्री अनुपम जैन, सम्पादक--'अर्हत्वचन' ने किया। समागत सभी विद्वानों ने श्री देवकुमार सिंह कासलीवाल की इसे महत्वपूर्ण संरक्षण देने हेतु मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

★

आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि जी का महाप्रयाण

२८ मार्च ९२ को श्रमण संघ के आचार्य, राष्ट्र संत श्री आनन्द ऋषि जी महाराज सा० का अहमदनगर (महाराष्ट्र) में ९२ वर्ष की अवस्था में समाधि पूर्वक महाप्रयाण हो गया। आपके महाप्रयाण से तप-त्याग, संयम-साधना और भक्ति की महान ज्योति शान्त हो गई। आपका जीवन इस आदर्श का जीवन्त उदाहरण था कि संत का जीवन व्रत ही समर्पण है, वे मानवता को सुख-शान्ति, प्रेम, ज्ञान और सद्भाव मुक्त हस्त से बाँटते हैं, आदान नहीं प्रदान, ग्रहण नहीं समर्पण ही उनका स्वभाव है।

तप, संयम और अध्यात्म के मनस्वी आचार्य भगवान् श्री आनन्द ऋषि जी ने समस्त जीवन तप, त्याग, संयम मे व्यतीत किया। सरलता, सौम्यता, उदारता, मन की पवित्रता, माधुर्य एव दयालुता के वे एक सच्चे मसीहा थे। वे श्रमण संस्कृति के संरक्षक सन्त रहे। आपने समूचे समाज को धार्मिक प्रकाश, उल्लास और विश्वास का आलम्बन दिया। आप श्री के समीप्य से श्रमण-श्रमणी तथा श्रावक-श्राविकाओं में परस्पर स्नेह, सौजन्यता एवं एकता की निर्मलधारा प्रवाहित होती रही है। आचार्य श्री कुशल उपदेशक एवं शासन प्रभावक सन्त थे। उनका साहित्य प्रेरणादायक एवं जैन धर्म-दर्शन को समृद्ध करने वाला है। ऐसे मनीषी आचार्य के प्रयाण से जैन समाज ने वरिष्ठ तपस्वी सन्त खो दिया है। उन्हें आदर सहित विनयांजलि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य - सत्कार

अनमोल रत्न—श्री तिलकचन्द जैन नारोवलिया; मूल्य धर्म प्रचार वी० सं० २५६; श्री आत्मानन्द जैन महासभा उत्तरी भारत, महावीर भवन, चावल बाजार, लुधियाना–१४१००८

यह पुस्तक — अनमोल रत्न — परमपूज्य परमार क्षत्रियोद्धारक वर्तमान गच्छाधिपति आचार्य श्रीमद विजयइन्द्रदिन्न सूरीश्वर जी महाराज के आशीर्वचन से युक्त है।

पुस्तक तीन भागों में विभक्त है। पहला भाग जगत और धर्म, मनुष्य, आत्मा, परमात्मा छः तत्त्व, कर्म लेश्या इत्यादि पर प्रकाश डालता है। दूसरे भाग में नवतत्व जीव-अजीव युगलिए, कल्पवृक्ष, देव काल-चक्र इत्यादि का वर्णन है, और तीसरे भाग में भगवत् भक्ति के भजन, स्तुति, स्तवन, आरती है।

यह पुस्तक वस्तुतः प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने वाले धर्म प्रेमी बालक बालिकाओं के लिये अत्यन्त उपयोगी है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी ठीक है।

धर्म शिक्षा के विद्यार्थियों के अतिरिक्त सामान्य तत्वान्वेषी श्रद्धालु जन के लिये भी पठनीय और संग्रहणीय है।

नवतत्व को जानकर उन पर श्रद्धा करना ही सम्यक् दर्शन है और सम्यक् दर्शन, सम्य ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र के आत्मसात हो जाने से जीवन का सही निर्माण होता है और जीव मोक्ष की ओर अग्रसर होने के लिये सक्षम हो जाता है। यह पुस्तक सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम बन सकती है।

यह पुस्तक किसी भी पाठक का आत्म कल्याण कर सकती है। धर्म में श्रद्धा रखने वाले इसके पठन-पाठन से लाभान्वित होंगे तो लेखक का श्रम सफल होगा।

ऐसी ज्ञानवर्धक और जीवन को अन्धेरे से रोशनी की ओर ले जाने वाली इस ज्योति शलाका के लेखक श्री तिलकचन्द जी नारोवालिया निश्चित ही साधुवाद के पात्र हैं।

—**'विजयानन्द' से साभार**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसार : एक अध्ययन—मूल लेखक : डा० ए० एन० उपाध्ये (अंग्रेजी), हिन्दी अनुवादक : प्रो० लक्ष्मीचन्द जैन; प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन साहित्य—संस्कृति संरक्षण समिति, डी० ३०२, विवेक विहार, दिल्ली; आकार : डिमाई; पृष्ठ सं० : ५+१६६; मूल्य : ?; संस्करण : प्रथम १९९०।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ 'प्रवचनसार' का समीक्षात्मक अध्ययन डा० ए. एन. उपाध्ये ने अंग्रेजी भाषा में किया था। 'प्रवचनसार : एक अध्ययन' उपाध्ये जी की उस कृति का प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन द्वारा किया गया हिन्दी रूपान्तरण है। प्रस्तुत ग्रन्थ को छः खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में कुन्दकुन्द विषयक साहित्यिक, पुरातात्त्विक और परम्परागत साक्ष्यों की समालोचना प्रस्तुत की गई है। दूसरे खण्ड में, पूर्ववर्ती एवं परवर्ती साक्ष्यों के आलोक में उनकी तिथि-निर्धारण का प्रयास किया गया है। तीसरा खण्ड आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य से सम्बन्धित है, जिसमें उनकी विषय-वस्तु के साथ-साथ संक्षिप्त समालोचना प्रस्तुत की गई है। चौथे खण्ड में प्रवचनसार के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हुए (जैन) साधु धर्म और (बौद्ध) भिक्षु धर्म का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। पाँचवें खण्ड में प्रवचन-सार की टीकाओं से सम्बन्धित तथ्य को प्रस्तुत किया गया है और अन्त में छठें खण्ड में प्रवचनसार की भाषा का व्याकरणीय अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत हिन्दी रूपान्तरण की भाषा सरल एवं प्रवाहमय है। ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तरण हो जाने से यह कृति हिन्दी पाठकों के लिए भी उपयोगी और संग्रहणीय बन गई है। प्रूफ संशोधन की सामान्य त्रुटियों को छोड़कर मुद्रण एवं साज-सज्जा निर्दोष एवं आकर्षक है। ग्रन्थ का मूल्य अंकित नहीं हुआ है अतः क्रेताओं को असुविधा होगी।

× × ×

महाजीवन की खोज—महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर; प्रकाशक : श्री जितयशाश्री फाउंडेशन, कलकत्ता; पृष्ठ सं० १४०; मूल्य : १० रू०; आकार : डिमाई; संस्करण : प्रथम, १९९१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर द्वारा विविध अवसरों पर दिये गये प्रवचनों का संकलन है। इस कृति को तीन खंडों में विभक्त किया गया है—(१) आचार्य कुन्दकुन्द के सूत्रों पर (दि० ७—११ जुलाई, ९०) दिये गये प्रवचन, (२) आनन्दघन के अध्यात्म-पदों पर (दि० १-५ अगस्त, ९०) दिये गये प्रवचन और (३) श्रीमद् राजचन्द्र के अध्यात्म-पदों पर (दि० ७—१२ अगस्त, ९०) दिये गये प्रवचन।

प्रस्तुत कृति के माध्यम से सामान्य पाठक भी जीवन की यथार्थता का बोध करते हुए तदनुरूप आचरण की प्रेरणा प्राप्त करेगा। धर्म प्रेमी जनों के लिए यह पुस्तक अत्यंत लाभप्रद सिद्ध होगी। कृति की शैली ओजपूर्ण और भाषा प्रवाहमान है। मुद्रण एवं साज-सज्जा आकर्षक है।

× × ×

अरिहंते सरणं पवज्जामि—आचार्य जयन्तसेनसूरि; प्रका० : श्री राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, रतनपोल, हाथीखाना अहमदाबाद; आकार : डिमाई; पृष्ठ सं० १०★९०; मूल्य : दस रु०; संस्करण : प्रथम १९९१

प्रस्तुत कृति के अध्यात्मप्रेमी लेखक आचार्य जयन्तसेनसूरि जी ने 'प्रार्थना' के गूढ़ार्थ को अपनी सहज-सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है। आपने 'जय वीयराय' सूत्र पर चिन्तनात्मक दृष्टिकोण से विवेचन कर इस कृति को और भी महत्वपूर्ण बना दिया है। यह कृति धर्मप्रेमी जनों के लिए पठनीय और संग्रहणीय है।

× × ×

छहढाला [सटीक]—(गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद) अनुवादक : श्री मगनलाल जैन; प्रका० : श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र); आकार : क्राउन सोलह पेजी; पृष्ठ सं० : १८८; मूल्य : रु० ३=५०; संस्करण : बारहवाँ, वीर सं० २५१५।

कविवर दौलतरामजी कृत 'छहढाला' नामक ग्रन्थ में धर्म का स्वरूप भली-भाँति समझाया गया है। सर्वप्रथम श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी के द्वारा इस कृति का गुजराती अनुवाद किया गया। प्रस्तुत कृति उस गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद है। इसमें छह ढालों को अलग-अलग छह खण्डों में वर्णित किया गया है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनमें जीव की अनादिकालीन भूलें और उनके फल, धर्म प्राप्त करने के उपाय, वस्तु का स्वरूप, सम्यक् दृष्टि की भावना, सम्यक्-चारित्र तथा महाव्रत, द्रव्यार्थिकनय से निश्चय नय का स्वरूप तथा उसके आश्रय से होने वाली शुद्ध पर्याय एवं पर्यायार्थिकनय से निश्चय और व्यवहार का स्वरूप अथवा निश्चय तथा व्यवहार पर्याय का स्वरूप आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

—डा० इन्द्रेश चन्द्र सिंह

× × ×

प्राचीन अर्ध मागधी की खोज में—प्रो० के० आर० चन्द्र, भू० पू० अध्यक्ष, प्राकृत पालि विभाग, गुजरात युनिवर्सिटी अहमदाबाद; प्रकाशक: प्राकृत विद्या विकास फण्ड अहमदाबाद १५; वितरक पार्श्वप्रकाशन, निशापोलनाका झवेरीवाड रिलीफरोड, अहमदाबाद १, पृ० ११२+१८; मूल्य रु० ३२=००

डा० के० आर० चन्द्र—प्राकृत भाषा के मूर्धन्य विद्वान है। उनकी यह कृति अर्धमागधी के प्राचीन स्वरूप को उजागर करने का महत्त्व-पूर्ण प्रयास है। यद्यपि जैनागमों की भाषा अर्धमागधी कही जाती है किन्तु उनके सम्पादन काल (वाचना काल) में उन पर महाराष्ट्री का इतना प्रभाव आ गया है कि आज उनको उनके प्राचीन मूल स्वरूप में स्थिर करना एक कठिन समस्या है। इन पाठ भेदों के कारण कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण अर्थ भेद भी हो गया है जैसे खेतन्न के प्रचलित खेयन्न/खेयण्ण रूप के कारण उसका अर्थ 'क्षेत्रज्ञ' (आत्मज्ञ) से बदलकर 'खेदज्ञ' हो गया है। विद्वान लेखक ने प्रचीन आगमों की उपलब्ध हस्त-प्रतों एवं प्रकाशित संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर प्राचीन अर्धमागधी का स्वरूप क्या रहा होगा इसका गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। जो लोग प्राकृत भाषा के अध्ययन से जुड़े हुए हैं उनके लिये यह कृति पठनीय है। ग्रन्थ की साजसज्जा और मुद्रण चाहे सामान्य हो किन्तु उसकी विषयवस्तु गहन अध्ययन और शोध-दृष्टि से सम्पन्न है। ऐसे प्रकाशन के लिये लेखक और प्रकाशक बधाई के पात्र है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चशती—लेखक आचार्य विद्यासागरजी संस्कृत टीका एवं हिन्दी रूपान्तरण—डा० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य; प्रकाशक—जानगंगा ३० डिप्टीगंज सदरबाजार, दिल्ली ११०००६; पृ० ३५१+१४

आचार्य विद्यासागरजी न केवल वर्तमान दिगम्बर मुनि परम्परा के प्रबुद्ध आचार्य हैं, अपितु एक उच्चकोटि के साहित्य सर्जक भी हैं। वे हिन्दी के समान ही संस्कृत भाषा में भी साधिकार रचनायें लिखते हैं उनकी यह कृति इस तथ्य की साक्षी है कि जैन परम्परा में संस्कृत भाषा की रचना-धर्मिता आज भी जीवन्त है।

प्रस्तुत कृति में आचार्य श्री के निम्न पाँच शतकों का संकलन है १. श्रमण शतक, २. निरंजन शतक, ३. भावना शतक ४. परिषह (कष्ट) जय शतक और ५. सुनीति शतक।

विषयवस्तु की दृष्टि से पांचों शतक अध्यात्म, वैराग्य शौर नीति प्रधान है। दूसरे शब्दों में कृति शान्त-रस प्रधान है। सामान्यतया तो भाषा में प्रवाह और लालित्य है यद्यपि कहीं-कहीं अधिक बोझिल एवं दुरूह अवश्य हो गई है। इन सभी शतकों का पद्यानुवाद स्वयं आचार्य श्री ने किया है। वह उन लोगों के लिये विशेष रूचिकर एवं प्रबोधक होगा—जो संस्कृत भाषा नहीं समझ पाते हैं। हिन्दी पद्यानुवाद भावपूर्ण तथा अधिक सहज और बोध गम्य है।

पं० पन्नालालजी की संस्कृत व्याख्या और हिन्दी अनुवाद भी विषय के साथ पूर्ण न्याय करता है और उसे स्पष्ट और बोधगम्य बना देता है।

इस कृति के सृजन के लिये लेखक एवं व्याख्याकार दोनों ही अभिनन्दनीय है। मुद्रण एवं साज-सज्जा निर्दोष और कलापूर्ण है। ग्रन्थ पठनीय और संग्रहणीय है।

—डा० सागरमल जैन

× × ×

जैन निर्देशिका—संपादक प्रदीप कुमार चोपड़ा; प्र० श्री जैन समाज, डी० १४२ ग्रीसम स्ट्रीट सेक्टर २—बी, विधान नगर, दुर्गापुर ७१३२९।२ प्रथम संस्करण सितम्बर १९९१, पृ० ५८□२० : आकार डबलडिमाई पेपर बैक, मूल्य २५ रुपये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन निर्देशिका शीर्षक से यह भ्रम होता है कि इसमें वर्धवान जिले के जैन सदस्यों की सूचना मात्र है परन्तु इसमें जैन विद्या से सम्बन्धित १२ लेख भी दिये गये हैं जो जैन विद्या के विविध पहलुओं पर लिखे गये हैं। इसमें उपाध्याय अमरमुनि, आचार्य श्री रजनीश, श्री रामधारी सिंह दिनकर, स्व० मुनि महेन्द्र कुमार जी प्रथम, युवाचार्य महाप्रज्ञ आदि विभूतियों द्वारा लिखे गये लेख उपलब्ध हैं। जो इस निर्देशिका की मूल्यवत्ता में चार चांद लगा देते हैं। इन लेखों के होने से निर्देशिका की उपयोगिता सूचनात्मक मात्र नहीं रह जाती और यह पाठकों के लिए उच्चस्तरीय बौद्धिक सामग्री भी उपलब्ध कराती हैं।

पत्रिका की रूप सज्जा अत्यन्त सुरुचि पूर्ण एवं मुद्रण उच्च-कोटि का है, निर्देशिका संग्रहणीय है।

× × ×

रयणसार—आचार्य कुन्दकुन्द अनु० आर्यनन्दी मुनि; प्रकाशक : श्रुतभण्डार ग्रंथ प्रकाशन समिति फलटण। सोलापुर, महाराष्ट्र आचार्य शान्तिसागर दि० जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार ग्रन्थमाला पुष्प २१, आकार डबल क्राउन १६ पृ० पेपर बैक, पृ० १०-७० मूल्य स्वाध्याय।

आचार्य कुन्द-कुन्द की रचनाओं के रूप में मान्य 'रयण सार' के इस संस्करण में मूल मराठी अनुवाद सहित प्रकाशित है। इस संस्करण में १७१ गाथायें दी हुई हैं। जबकि डा० देवेन्द्र शास्त्री सम्पादित (कुन्द-कुन्द भारती दिल्ली से १९७५ में प्रकाशित संस्करण में १५६ गाथायें उपलब्ध हैं, और श्री मद्राजचन्द्र, स्वाध्याय मन्दिर देवलाली से प्रकाशित संस्करण में १६७ गाथायें हैं।

यह ग्रन्थ व्यवहार रत्नत्रय का प्रतिपादन करता है। मुख्य रूप से यह आचार शास्त्र का ग्रंथ है। इसमें शुद्ध आत्म-तत्व को लक्ष्य में रखकर गृहस्थ और मुनि के संयम-चरित्र का निरूपण किया गया है। प्रकाशक ने मराठी अनुवाद प्रकाशित कर प्रशंसनीय कार्य किया है।

—डा० अशोक कुमार सिंह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनेन्द्र-वाणी (प्रथम खण्ड)—लेखक मनोहर मुनि जी; सम्पादक: तिलकधर शास्त्री; आत्म-मनोहर जैनश्रुतपीठ, १५०, L, माडल-टाउन, लुधियाना; प्रथम संस्करण १९९१; मूल्य १६० रु०; रायल ८ पृष्ठ सजिल्द २३, ६६४, ६४।

इसमें दशवैकालिक, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुतस्कन्ध, प्रश्न-व्याकरण सूत्र, आवश्यक, नन्दी और उत्तराध्ययन सूत्र इन प्रमुख ८ जैन आगम ग्रन्थों का हिन्दी में सार प्रस्तुत किया गया है। इसमें दो परिशिष्ट भी हैं। प्रथम परिशिष्ट में इन ग्रन्थों में आयी प्रमुख कथाओं का परिचय दिया गया है। द्वितीय परिशिष्ट मे प्रमुख पारि-भाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया गया है। इस ग्रन्थ में विषय को मूल के अनुसार ही अध्ययनादि में वर्गीकृत कर प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी भाषा में एक जिल्द में ८ प्रमुख आगमों की विषय वस्तु को उपलब्ध कराकर मुनिश्री ने स्तुत्य कार्य किया है। इस ग्रन्थ की एक कमी जैन विद्वानों को अवश्य खटकेगी। इसमें दशवैकालिक की भी विषय वस्तु को सुधर्मा और जम्बू स्वामी के संवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है जबकि यह सर्वमान्य रूप से शय्यंभव की कृति है।

जो भी हो इस ग्रन्थ का कलेवर आकर्षक है, मुद्रण अत्यन्त सुन्दर है। आकार की दृष्टि से इसका मूल्य भी अत्यन्त कम है। ग्रन्थ संग्रहणीय है।

× × ×

समयसार वैभव—लेखक : आचार्य कुन्दकुन्द; भावानुवादक नाथुराम डोंगरीय; प्रकाशक : जैन साहित्य प्रकाशन, ७० एम० टी० क्लाथ मार्केट इन्दौर; डिमाई पृष्ठ ३०४; मूल्य रु० २१ मात्र।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द की अध्यात्म प्रधान महान कृति समयसार का मूल के साथ हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ दिया गया है। अत: समयसार को हिन्दी माध्यम से समझने का सरलतम एवं सहज उपाय है। वैसे तो अब तक समयसार के अनेक संस्करण हिन्दी अनुवाद या व्याख्या के साथ प्रकाशित हो चुके हैं कुछ हिन्दी पद्यानुवाद भी निकले हैं। किन्तु प्रस्तुत कृति की विशेषता यह है कि उसकी व्याख्यायें न तो अति विस्तृत है और न अति संक्षिप्त। वे विषय को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्ट करने में पूरी तरह न्याय करती हैं और प्रवचन शैली में लिखी गई व्याख्याओं की तरह अर्थ में विषय को बोझिल नहीं बनाती है। यद्यपि पूर्व में लेखक के पद्यानुवाद स्वतंत्ररूप से मुद्रित हुए थे किन्तु इसमें मूल पाठ को उक्त हिन्दी पद्यानुवाद के साथ-साथ हिन्दी गद्य-व्याख्या से समन्वित किया गया है। मुद्रण और साजसज्जा निर्दोष और आकर्षक है। ग्रन्थ पठनीय एवं संग्रहणीय है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में पं० जगन्मोहनलालजी की भूमिका और नाथुराम जी का सम्पादकीय भी महत्त्वपूर्ण और पठनीय है उससे ग्रन्थ की महत्ता में वृद्धि हुई है।

× × ×

दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि—लेखक कामता प्रसाद जैन; प्रकाशक : श्री रघुवर दयाल जैन, स्मृति ग्रन्थमाला B. 2/22 सोपिंग सेन्टर सफदरगंज इनक्लेव नई देहली २९, पृ० १६२, मूल्य स्वाध्याय।

प्रस्तुत कृति दो भागों में विभाजित है प्रथम भाग में दिगम्बरत्व की व्याख्या के साथ साथ हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि विभिन्न परम्पराओं में दिगम्बरत्व का क्या स्थान है इसकी चर्चा की गई है। साथ ही दिगम्बर मुनि के पर्यायवाची नामों की चर्चा भी दी गई है। इसमें इतिहासातीत काल में और ऐतिहासिक युग के विभिन्न काल-खण्डों में हुए दिगम्बर मुनियों की भी सप्रमाण चर्चा की गई है। अतः प्रस्तुत कृति को दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनियों का एक ऐतिहासिक दस्तावेज कहा जा सकता है।

मुद्रण निर्दोष एवं साजसज्जा आकर्षक है। कृति पठनीय और संग्रहणीय है। इस महत्वपूर्ण कृति के लिये लेखक और प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साभार प्राप्ति

१. **शीलत्व की सौरभ** : लेखक—आचार्य श्री जयन्तसेनसूरि; प्रका० श्री राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, रतनपोल, हाथीखाना, अहमदाबाद; पृ० सं० ३२; मूल्य : ५·०० रु०; १९९१।

प्रस्तुत लघुकृति में शीलधर्म के उपासक एवं पालक विजय सेठ और विजया सेठानी की कथा को बड़े ही प्रेरणास्पद ढंग से वर्णित किया गया है।

२. **चिर प्रवासी**—लेखक एवं प्रकाशक : उपरोक्त; पृ० सं० ४०; मूल्य : ४.०० रु०; १९९१।

प्रस्तुत लघु कृति आचार्य श्री जयन्त विजयजी के मुक्तकों का संग्रह है।

३. **सेवा हमारी भाषा**—प्रवचनकार : पुष्पदंत सागर; प्रकाशक कुन्द-कुन्द प्रकाशन ७३१ रूप महल गेस्ट हाउस, करमचन्द चौक, जबलपुर (म० प्र०) पृ० सं० : १८;

प्रस्तुत कृति में भारतीय राष्ट्रीयता पर मुनिश्री के प्रवचनों का संकलन है।

४. **निश्चय नहीं निष्कर्ष कहो**—लेखक—प्रकाशक—पूर्वोक्त; पृष्ठ सं० : २६; सहयोग (मूल्य) : रु० दो।

प्रस्तुत व्याख्यान में निश्चय को केवल ज्ञेय नहीं मानकर उसके अनुसार जीवन जीने की बात कही गयी है। आचार्य श्री का मानना है कि व्यवहार के पश्चात् ही निश्चयात्यक अनुभव सम्भव होता है।

५. **नमस्कार महामंत्र**—लेखक : मुनि श्री जयानन्द-विजयजी; पुस्तकप्राप्तिस्थल : शाश्वत धर्म कार्यालय, जामली नाका, थाना (महाराष्ट्र)।

प्रस्तुत कृति में पाँचों पदों का आगमिक आधार पर व्याख्यान किया गया है, साथ ही प्रत्येक पद के प्रत्येक शब्द को लेकर उसकी विशिष्टता की चर्चा की गई है।

६. **मुक्ति महल का राजमार्ग**—लेखक : मुनिजयानन्द विजय; प्राप्ति स्थल: पूर्वोक्त;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति में दान, शील, तप, और भावना इन चार विषयों पर अभिधान राजेन्द्र कोष के आधार पर व्याख्याएँ एवं विवरण प्रस्तुत किया गया है।

७. **कामोविजेता जगतोविजेता**—लेखक और प्राप्ति स्थल—पूर्वोक्त।

प्रस्तुत कृति में कामवासना पर विजय पाने के सन्दर्भ में ११५ सूक्ति वचन संकलित किये गये हैं।

८. **चिन्तन की रश्मियाँ**—लेखक (चिंतक) : मुनि श्री जयानन्द विजयजी; प्रकाशक : शा. बाबुलाल अमीचन्दजी बाफणा, माघ कालोनी भीनमाल (राज०)।

प्रस्तुत कृति में लेखक ने जैन धर्म से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर अपने चिन्तन को अभिव्यक्त किया है।

९. **प्रगति का प्रथम सोपान**—लेखक : पूर्वोक्त; प्रकाशक शा. पुखराजजी मनरूपजी शाजी, पीपल चौक; भीनमाल (राजस्थान)।

प्रस्तुत कृति में धर्म के स्वरूप के विवेचन के साथ-साथ श्रावक के ३५ मार्गानुसारी गुणों का वर्णन है।

१०. **मुनि जीवन नो मार्ग (गुजराती)**—लेखक : पूर्वोक्त; प्रकाशक : श्री थराद जैन श्राविका संघ, थराद, बनासकाँठा।

प्रस्तुत कृति में लेखक ने जैन मुनि जीवन के सामान्य आचार नियमों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है।

११. **मनुष्य की ऐसी जिन्दगानी**—लेखक: मुनि अजितशेखरविजय; प्रकाशक : श्री जैन संघ गुन्टूर; पृष्ठ सं० १०५; मूल्य : रु० १५=००।

प्रस्तुत कृति में अनित्याणिशरीराणि, भगवान महावीर का उत्कृष्ट वैराग्य, अणु में विराट का दर्शन, स्वयं को सुधारो—जगत को स्वीकारो, महानता के मार्गोपदेशक भगवान महावीर, धारी के स्वाद में, आदि विषयों पर मुनि श्री के विचारों का संकलन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

transform plastic ideas
into beautiful shape

NUCHEM MOULDS & DIES

Our high-precision moulds and dies are designed to give your moulded product clean, flawless lines. Fully tested to give instant production the moulds are made of special alloy steel, hard-chrome-plated for a better finish.

Get in touch with us for information on compression, injection or transfer moulds. Send a drawing or a sample of your design. If required we can undertake jobs right from the designing stage.

Write to :

Nuchem PLASTICS LTD.
Engineering Division 20/6, Mathura Road, Faridabad (Haryana)

Edited and Published by Prof. Sagar Mal Jain, Director,
Pujya Sohanlal Smarak Parshvanath Shodhpeeth,
Varanasi-221005
Printed by Divine Printers, Sonarpura, Varanasi-221001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org